दो शब्द

विस्तार की अपनी विशेषता होती है तो सीमित शब्दों में कुछ कहने के प्रयास का अपना महत्व। पर विशेष और अ-विशेष से परे एक प्रयास और होता है, अनायास, जिसे सहज की संज्ञा दी जा सकती है। सहज रूप से कहे गए का अपना एक अलग स्वरूप होता है—अपना अलग सौन्दर्य।

'सु-राज' जब लिख रहा था तो लगा कि बिना अधिक विस्तार दिए ही, रचना स्वयं समाप्त हो गई। इसका घटना-क्रम बहुत लम्बा है, अतः किसी भी सीमा तक इसे विस्तृत किया जा सकता था, किन्तु कम-से-कम शब्दों में, अधिक-से-अधिक समेटने के सहज प्रयास के कारण उपन्यास बनते-बनते यह उपन्यासिका बन गई।

लगता है, ज्यों-ज्यों समय बीत रहा है, 'कबीर' की शैली का प्रभाव भी कहीं बढ़ता चला जा रहा है। क्या बिना लाग-लपेट के, सीधे-सीधे शब्दों में पाठक तक बात नहीं पहुंच सकती? समय के साथ-साथ उग्रता का दायरा भी बढ़ रहा हो तो आश्चर्य नहीं!

स्कण्डेनेवियाई या अन्य यूरोपीय देशों की भाषाओं के साहित्य में ऐसे अनेक प्रयोग हुए है। अभी कुछ समय पूर्व 'डेल्टा' में प्रकाशित मात्र पन्द्रह पृष्ठों की उपन्यासिका पढ़कर मुझे 'अंधेरा और' की याद आई।

●

विविध व्याधियों से घिरा यह रुग्ण समाज भौतिक उपलब्धियों के पश्चात् भी प्रगति के नाम पर, अपनी ही परिधि पर घूम रहा है। निकट आने के बावजूद, मनुष्य और मनुष्य के बीच की दूरी निरन्तर बढ रही है। सत्ता, शक्ति, सम्पन्नता, न्याय—ये शब्द मात्र कुछ ही लोगों तक सीमित रह गए हैं। दिन-प्रति-दिन बढ़ती अर्थ की महत्ता अनेक अनर्थों

के द्वार खोल रही है। राजनीतिक भ्रष्टाचार, सामाजिक शिष्टाचार का पर्याय बन गया है।

ऐसी विकट स्थिति में जो ईमानदार है, ईमानदार बने रहना चाहता है, वह कैसे जिए ? जो असमर्थ है—असहाय, वह अपने दुर्बल पांव आस्था को किस धरती पर, कहां टिकाए ?

'सु-राज' के गांगि 'का या देवा, 'अंधेरा और' के परसिया, 'कांछा' के नायक 'कांछा' के जीवन की क्या यही विडम्बना नहीं ?

जो विचार या साहित्य समाधान नहीं दे सकता, वह पंगु होता है—गूगा। दृष्टि होते हुए भी दृष्टिहीन होता है। जब स्थिति ऐसी हो तो क्या साहित्य का दायित्व कुछ अधिक नहीं बढ़ जाता ?

मेरे जीवन का आरम्भिक काल कुमाऊं के पर्वतीय प्रदेश, हिमालय की तराई तथा नेपाल की सीमा-रेखा के समीप बीता है। ये तीनों क्षेत्र त्रिभुज के तीनों कोणों की तरह परस्पर जुड़े हैं। *'सु-राज' में कुमाऊं पर्वतीय क्षेत्र, 'अंधेरा और' में तराई का आदिवासी अंचल और 'कांछा' में* नेपाल की पृष्ठभूमि है। ये *अलग-अलग क्षेत्रों की कहानियां* होने के बावजूद इनमें बहुत कुछ साम्य है। सबसे बड़ा साम्य है—जीवन-संघर्ष का। जिन्दा रहने के लिए मरने का।

—हिमांशु जोशी

ए-2/182, सफदरजंग एनक्लेव,
नई दिल्ली

असित, सिद्घार्थ और अमित के लिए

सु-राज

'कका, यह घर अब नहीं चलेगा…।'

'क्यों—?' सहज आश्चर्य से गागि 'का बोले।

'नहीं, बहुत हो चुका अब!' देवा ने हाथ हिलाते हुए कहा, 'इससे अधिक नहीं…।'

'गागि'का ने अपने गंजे सिर से, पतली-सी दोपलिया सफेद टोपी उतारकर घुटने पर रखी। ऊपर से नीचे तक यों ही एक बार घुसले सिर पर हाथ फेरा। असमंजस से देवा की ओर देखा। कुछ कहने के लिए होंठ फड़के, किन्तु फिर भिंच गए।

बाहर चाक-बरण्डे में अभी तक शोर था। बच्चे रो रहे थे। लकड़ी के कच्चे फर्श पर कोई जोर-जोर से पांव पटक रहा था—जैसे पेट में झाल (पीड़ा) उठ रही हो।

'ऐसा भी होगा, देवू, कभी सपने में भी सोचा नहीं था।' गागि 'का ने मौन तोड़ते हुए कहा, 'अरे, घर तो चलता है कम खाकर—कष्ट उठाकर। एक-दूसरे का दुःख झेलकर। पर…यहां तो हाल ही और है। किससे क्या कहें?' कहते-कहते काका चुप हो गए।

'घर-बार के जिस मामले में आपने जो कहा, मैंने किया।' देवा बोला, 'हरखी ने देवी की धार के तीन खेत दबा लिए। पंच-सरपंच सब ने झूठ बोला। सरासर बेईमानी की, उसी का पक्ष लिया—मैं चुप रहा। आनसिंग छोटी गूल का पानी रात को चुपचाप काटकर अपने खेत में लगा लेता है—मैं मुंह पर लीसा लगाकर चुप देखता रहता हूं…। दाड़िम का पेड़ हमारा है, पर फल तल्ले घर नरलि काखी तोड़कर ले जाती है… अपने ही इस घर में दिन-रात खटने पर भी मुझे क्या मिलता है? हमारे

लोकि की मां बीमार पड़ी है। मुट्ठी-भर दूध भी उसने कभी देखा हो—मुझे याद नही। छोटी बहू हमारे और अपने बच्चों के बीच अलग-अलग दो हाथ करती है···।' देवा की आवाज मे घुटन ही नही, दबा हुआ आक्रोश भी था।

'अपने बच्चो को तो छोटी बहू कनक के फुल्के देती है और हमारे बच्चो को मडुवे की बकोड-जैसी (पेड की छाल-सी) काली रोटियां!' देवा तनिक रुककर बोला, 'गलती किसी की हो, मार हमारे बच्चों को पड़ती है। आपकी इज्जत के डर से कुछ नही कहते, नही तो कब का भता भग हो गया होता, इस घर का···! लोकि की मां मैके मे ही रहने की बात करती है। हमारे अलावा वहा है ही कौन, उनको पानी ओड़ कर पिलाने वाला···!' देवा रौ में बोलता चला जा रहा था।

'बच्चे तो सब बराबर होते हैं रे! पांचो अगुलियां बरोबर!' काका बुदबुदाए, 'छोटी को ऐसा अनर्थ नही करना चाहिए···।'

'ठुल बोज्यू— (बडी भाभी) मे मैके वालों ने कपडे भेजे हैं। परसों पिपलाटी का मथुरिया दे गया था। छोटी कहती है—उसका भी भाग होना चाहिए। आज यह महाभारत उसी वजह से मचा है···।'

बडी बहू का पक्ष लेते हुए गांगि 'का बोले, 'तेरी ठुल बोज्यू बेचारी तो अभागी है— विधवा। उससे किसी का क्या डाह! उसके गरीब भाई ने खा-न-खाकर कुछ भेजा तो उस पर हिस्सा लेने की बात सोचना भी पाप है— महापाप···।' दर्द के साथ कहते-कहते गांगि 'का चुप हो गए।

बाहर का शोर अब तक थमा न था। जब वहां बैठना मुश्किल हो गया, तब वह वैसे ही बाहर निकल गए।

उन्हें सामने देखते ही छोटी बहू झट से घूंघट काढकर, बच्चे को उठाए चुलान की तरफ चली गई। चूल्हा बुझ चुका था। माज मे रखा भात जल गया था—दुर्गन्ध-सी आ रही थी। मंझली बहू— लोकि की मा, लोकि को दूध पिलाती हुई वैसी ही बैठी रही। आचल नीचे तक सरका लिया—लाज के मारे। बड़ी बहू की आंखों में झुमके फूट रहे थे—बरसात के जैसे परनाले। गालों पर ढुलकते आंसुओं को पिछौडी के फटे पाल मे पोंछ रही थी—सिसकती हुई।

काका की उपस्थिति से सारा शोर सहसा शान्त हो गया।

'बहू, तू सबसे बड़ी है न!' गागि 'का ने शून्य मे जैसे कुछ टटोलते हुए कहा, 'इसलिए तुझे इन सबसे अधिक सहना चाहिए। छोटी कपड़े के लिए रार मचा रही है तो दे दे। तेरे लिए मैं और सिलवा दूंगा।' उनका स्वर उदास हो आया, 'घर मे तू सबसे सयानी है न! जिठानी ही नहीं, इनकी सास की ठौर पर भी है···। यह बच्ची है—नादान। इसे अकल ही होती तो ऐसा कुपचित करती···?'

बड़ी बहू बहती नाक पोछती भीतर गई। काठ के भकार मे से नये सिले कपड़ों की गठरी उठा लाई और चुपके से काका के सामने रख दी।

गांगि'का छोटी बहू की ओर कपड़े बढ़ा ही रहे थे कि नन्दू बाज की तरह झपटा, 'हम मंगते नही काका! भीख नही चाहिए हमे···!'

'क्या कहा—?' तनिक अचरज से गागि 'का ने चेहरे की ओर देखा, 'घर में भीख होती है पगले!'

'हां, हां, होती है। होती है! होती है!' नन्दू ने गठरी हवा में उछालकर दूर कोने में फेंक दी।

अवाक्-से देखते रह गए काका। देर तक मूर्तिवत् खड़े रहे। फिर चुपचाप लाठी उठाई और पंचायतघर की ओर निकल गए।

सारा दिन इधर-उधर भटकते रहे, पर रात के अंधियारे [में रास्ता टटोल-टटोलकर जब घर पहुंचे तो देखा—घर में मातम-सा छाया हुआ है। अंधेरा।

देवा ने बतलाया, 'ठुल बोज्यू से छोटी की कुछ कहा-सुनी हो गई थी। गुस्से में आकर छोटी ने वे कपड़े आग मे झोंक दिए। ठुल बोज्यू रोते-रोते बेहोश हो गई हैं। अभी एक घड़ी पहले होश आया।'

जले हुए, काले टुकड़े उसने सामने रख दिए।

गांगि 'का का पोला मुंह खुला-का-खुला रह गया।

जीवन मे कभी मन्दिर नही गए गांगि 'का। कभी व्रत नहीं रखा, न तीरथ-बरत ही किया। पाप-पुण्य क्या होता है, इस पर भी विचार नही किया। जब जो काम आया, सहज भाव से कर दिया। उसी को

पूजा माना, उसी को पुण्य !

जब तक परमानन्द पण्डित जिन्दा रहे—सुई के साथ लगे धागे की तरह आंखें मूदे-मूदे पीछे लगे रहे। न दिन देखा, न रात। न भूख देखी, न प्यास। न वर्तमान देखा, न भविष्य। परमानन्द पण्डित ने जो कहा, उसी को ब्रह्मवाक्य मान कर, उसी का पालन करने मे अपने को धन्य समझा।

फिरंगियों का राज था, उन दिनो। परमानन्द पण्डित ने कहा, 'हाथ के कते, हाथ के बुने कपड़े पहनो,' गागि'का ने खादी धारण कर ली। परमानन्द पण्डित ने कहा, 'जब तक देश आजाद नही होता, हम आराम नही करेंगे। फिरंगियों से मरते दम तक लडते रहेंगे।' गागि'का ने उस दिन से कभी आराम नहो किया। निरन्तर फिरंगियों से लड़ते रहे। यद्यपि फिरंगी कैसे होते हैं ? क्या होते है ? यह अपने जीवन में उन्होने कभी देखा न था और न देखने की आवश्यकता ही अनुभव की। चूंकि परमानन्द पण्डित कहते हैं, इसलिए उसे सच मानकर, उसका पालन करते रहे।

परमानन्द पण्डित ने एक दिन कहा—'अपना-पराया इस ससार में कुछ नहीं होता, गंगानन्द !' इसलिए उन्होने मान लिया कि अपना-पराया सचमुच में कुछ नही होता। बूढ़े माता-पिता को बिलखता छोड़कर वह घर-घर, द्वार-द्वार अलख जगाने निकल पड़े। जहा रात हुई ठहर गए, जहा भूख लगी खा लिया। खाना नही भी मिला तो प्रभु का नाम लेकर ठण्डा जल पीकर सो गए।

1942 मे 'भारत छोड़ो' आन्दोलन चला—'करो या मरो' का नारा। परमानन्द पण्डित हल्द्वानी मे पकड़ लिए गए। उनके साथ-साथ वह भी जेल मे जा धमके।

जेल मे परमानन्द पण्डित ने पच्चीस दिन की भूख-हड़ताल की तो छब्बीसवें दिन ही उनके साथ गागि'का ने भी अन्न-जल ग्रहण किया।

पन्द्रह अगस्त को जब आज़ादी मिली, तो एक दिन परमानन्द पण्डित ने बुलाकर समझाया—अब लड़ाई खतम हो गई गंगानन्द ! अंग्रेज हार-कर, देश छोड़कर चले गए। हमारा संघर्ष अब समाप्त हो गया। तुम भी अपने घर जाओ।'

इतने वर्षों बाद आज गांगि 'का को सहसा घर की सुधि आई—बूढ़े मां-बाप का स्मरण हुआ।

परन्तु घर पहुंचकर देखा—वहां खण्डहर है। मां-बाप को संसार से चल बसे, अर्सा हो गया। मरते समय सन्तान का मुंह देखने की उनकी अन्तिम लालसा अधूरी ही रह गई।

परमानन्द पण्डित आज़ादी मिलने के एक ही वर्ष बाद, हृदय-गति रुक जाने के कारण यह नश्वर देह छोड़कर वैकुण्ठ-धाम चले गए और बीच भवसागर में अकेले ही छोड़ गए—गांगि 'का को।

सुई टूट गई, खो गई थी, किसी अतल, अंधेरी गहराई में! और अब अकेली डोर कहां जाए?

दूर के रिश्ते की दिवंगता भाभी के तीन अनाथ बच्चों को उन्होंने अपने पास बुला लिया और एक नई ज़िन्दगी शुरू कर दी।

'गंगानन्द, अभी उमर ही क्या है तुम्हारी! कहीं शादी कर लो!' कोई कहता तो गांगि 'का सहज हंस पड़ते।

'मुला-टुला इन तीन अभागे बच्चों की परवरिस हो गई तो मौत है। ब्याह रचा कर क्या करूंगा? कभी किसी भी छिन मैं जोग ले सकता हूं!'

'क्या तुम अब जोगी नहीं?' किसी के कहने पर वह अबोध बच्चों की तरह और भी ज़ोर से हंस पड़ते।

दो

परमानन्द यद्यपि चल बसे थे, किन्तु काका ने कभी भी उन्हें मरा हुआ नहीं माना। जो-जो बातें उन्होंने कही, वे सब पूरी करते रहे। परमानन्द कहते थे—जात-पात कुछ नहीं होता, हरिजन-सवर्ण सब समान हैं। जीवन-भर काका यह बात गांठ बांधे रहे। इन्होंने मान लिया कि जात-पात कुछ नहीं होता। हरिजन-सवर्ण सब समान हैं।

जब धनकोट, भिगराड़ा और रौल्यूड़ा के लोहारों-शिल्पकारों के घर जाकर *अन्न खा आते, पानी पी आते, तो भाई-बिरादरी में कम 'थू-थू'* न होती। हुक्का-पानी तक अर्से तक बन्द रहता, किन्तु कभी भी उन्होंने इस ओर ध्यान नही दिया। लोग क्या कहते हैं—उन्होंने न इसकी कभी परवाह की, न कुछ महत्व ही दिया। सामने के गधेरे मे अपना नौला अलग खोद लिया और वही से पानी पीते रहे।

तीनों बच्चे बड़े हो गए तो उनके ब्याह के वक्त भी जाति नही देखी। लड़की सुशील लगी, परिवार संस्कारी—बस, विवाह कर दिया।

तन पर खादी के फटे चीथड़े पहले की तरह वह आज भी टागे रखते। आज भी पहले की तरह दिन-रात काम पर जुटे रहते—न दिन देखते, न रात!

कही पटवारी जुलम करता तो सीना तानकर खड़े हो जाते। जंगल का पतरौल गांव की औरतो को परेशान करता तो लोगों को लेकर वहां धमक पड़ते। हरिजनों की बरात में सबसे आगे-आगे लगते। हर दुखी का घर उन्होंने अपना घर समझा। हर असहाय को सहायता पहुंचाई। दुनिया में जिसका कोई *न होता, गांधि 'का उसके आंगन मे वट-वृक्ष की* तरह आ खड़े होते।

कही की ईंट, कही का रोड़ा जोड़कर कहने भर के लिए एक 'गृहस्थी' बसा ली थी। किन्तु उम्र-भर रहे—अनिकेत सन्यासी ही। शादी नही की, पैसा नही जोड़ा—इसका मलाल कभी भी नही रहा।

अपने और पराये बच्चो के बीच भेद क्या होता है—उन्होने जाना नही।

आनन्द जब गुज़रा तो दिनों ही नही, महीनो तक वह पगलाए-से रहे। बहू को घर पर ही रखा। जो कुछ उसके लिए बन सकता था, पिता की तरह करते रहे।

देवा और नन्दू को पिपलाटी की पाठशाला तक ही नही, खेतीखान के मिडिल स्कूल तक पढ़ाया-लिखाया—दो आंखवाला बनाया। स्वयं कष्ट उठाते रहे, किन्तु कभी किसी को आंच न आने दी। आज इस ढलती उम्र में भी निरन्तर खेतों में अंटे रहते। चरखा-करघा सब छोड़कर

तीन

उस सारी रात गांगि का सो न पाए। तरह-तरह के विचार मन में उठते रहे। परमानन्द पण्डित ने मृत्यु से कुछ महीने पहले कहा था—लड़ाई खतम हो गई गंगा ! अंग्रेज हार गए। किन्तु काका को अब भी लगता कि अंग्रेज हार अवश्य गए, किन्तु लड़ाई खतम कहां हुई ? तारा के घर में एक जून भी चूल्हा नहीं जलता। भवानी का होनहार बेटा दिग्गू पाठशाला नहीं जा पाता, क्योंकि किताबों के लिए पैसे की व्यवस्था नहीं हो पाती। छदिया लोहार की पत्नी कफन के बिना ही जला दी गई। पटवारी किसी निरपराधी को हथकड़ी लगाकर हौलात में ठूस देता है। इत्ती बड़ी दुनिया में कहीं कोई ठौर नहीं, जहां आदमी जी सके !

दूसरी तरफ तिनका-तिनका जोड़कर उन्होंने यह घोसला बनाया था—कलह और कुपचित के अलावा यहां क्या है ? भाई के दिल में भाई के लिए दर्द नहीं तो औरों के लिए क्या होगा !

उन्हें अजीब-सी रिक्तता का अहसास होने लगा। एक गहरी निराशा —हताशा का।

सुबह उठते ही उन्होंने देवा को बुलाया—'छोटी बहू ने कल जो किया, मुझे अच्छा नहीं लगा। आखिर ऐसा भी क्या था, जो कपड़े जला दिए ? नये थे, किसी ने पता नहीं किस भावना से दिए थे—घर में कोई भी पहन लेता। क्या फर्क पड़ता ! बड़ी बहू विधवा बिचारी के मन में क्या गुजरी होगी…!'

देवा सिर झुकाए बैठा रहा।

'मेरी एक ही साध थी देवा—तुम लोग मेहनत-मजूरी करके दो टुकड़े आराम से खाओ। मिल-जुलकर प्रेम से रहो। किन्तु मुझे अब लगता है—वह सब मृगतृष्णा थी। छल था। भुलावा था। तुम दो भाई हो

कमाने वाले, एक विधवा भाभी तुम्हें भार लगती है ! उसे ही तुम आस के झाड़ से भी बदतर समझते हो तो दूसरों को क्या नहीं समझोगे !

'देवा, घर-बाहर—हर जगह से मेरा सपना टूट रहा है। मुझे कहीं कोई किनारा नहीं दीखता। धनकोट, रौल्यूड़ा के लोहारों की जैसी दशा अंग्रेज़ों के समय थी, उसमे आज तक कोई खास अन्तर नहीं आया। आज भी उन्हें दिन-भर मेहनत-मजूरी करके दो वक्त की रोटी नहीं मिलती। आज भी वे बेगारी करते हैं। थोकदार-जिमदार आज भी उन्हें लूटते हैं।' काका ने एक गहरी सास ली।

कुछ रुककर आगे बोले, 'मुझे लगता है, परमानन्द पण्डित भी गलत कहते थे। वह कहा करते थे—फिरंगियों के जाते ही देश मालामाल हो जाएगा। दूध की नदियां बहेंगी। कहीं कोई भूखा-प्यासा नहीं रहेगा। सबको जीने का हक मिलेगा। किसको मिला है जीने का हक···?' *काका का गला भर आया*—'*पटवारी ने डण्डे से मार-मारकर* सबके सामने मल्ले घर हेतराम की हत्या कर दी ! किसने क्या कर लिया ?'

देवा चुप सुनता रहा।

'मेरा मन उचट गया है देवा ! सब जगह रेत-ही-रेत नजर आ रही है—अंधेरा-ही-अंधेरा···!'

काका उठ ही रहे थे कि बाहर के किवाड़ की सांकल खड़की। रूपदेव पधान घबराए हुए, भीतर आए, 'ह हो, गंग 'दा, गजब हो गया !'

'क्या-क्या—?'

'देवदार के पेड़ों को चोरी से काटने के अपराध मे पटवारी ने हमारे धना का नाम साक दिया है। अभी चपड़ासी आया था कागज लेकर। कहता था—धना को हौलात ले जाया जाएगा।' रूपदेव एक ही सांस में कह गए।

'पेड़ों का ठेका तो खीमसिंग थोकदार ने लिया था न !'

'हां, लिया तो उन्होंने ही था।'

'पटवारी, पतरौल, रेन्जर—सबके सामने पेड़ों पर छाप लगा दी थी न !'

'हां, गांव वाले भी थे सामने···।'

'फिर तुम्हारा धना बीच में कैसे आ गया ?'

'थोकदार से गूल के पानी के मामले में, पिछले चैत में कुछ कहा-सुनी हो गई थी। हो सकता है, उसी ने पटवारी के कान भर दिए हों! और धना को पकड़ाने की चाल चली हो!'

'जब तुम्हारे घनश्याम ने पेड़ काटे ही नहीं तो फिर कैसे पकड़कर ले जाएंगे उसे ? हम भेड़-बकरियां तो नहीं! देखें तो, कैसे न्या नहीं होगा —सरकार-दरबार में!'

पधान के साथ ही गांगि 'का भी लाठी टेककर बाहर की ओर बढ़े।

'पखी-चादर साथ ले जा रहे हैं! कका, कहीं बाहर-गांव जाना है क्या ?' देवा ने पूछा तो काका ने कोई उत्तर नहीं दिया।

चार

चार-पांच दिन तक भी काका घर नहीं लौटे तो सबको सहज ही चिन्ता हुई। आ तो शाम को ही जाना चाहिए था, किन्तु आज इतने दिन हो गए!

कहीं दूर तो नहीं चले गए—चालसी पट्टी की तरफ!

कहीं बीमार तो नहीं हो गए—पिछली बार भी ऐसा ही हुआ था। बाहर सर्दी में निकलते ही गठिया-वात ने घेर लिया था। तब कन्धे पर जोक (लाद)कर किसी तरह ला पाए थे। पूरे तीन महीने बिस्तर पर मिड़गू की तरह पड़े रहे थे।

दुयारांनी के घने जंगल में बाघ का भी डर था। मेलिया-बाघ कभी-कभी बच्चों या बूढ़ों पर भी झपट पड़ता है।

काका कमजोर हैं। कहीं रास्ते में ही टोप न दे दी हो! पके फल को टपककर गिरते वक्त ही कितना लगता है!

कहीं किसी गहरे गधेरे में, रात के अंधियारे में गिर न पड़े हों! नदी पार करते समय···

जितने मन, उतनी बातें !

जाड़ा शुरू हो चुका था। नदियों-तालाबों के किनारे का पानी जमने लगा था। सुबह सफेद पाले से धरती ढकी रहती। लगता—जैसे बारीक सफेद चीनी किसी ने बिखेर दी हो।

हवा चुभती लगती—तेज धार की तरह छीलती हुई।

देवा देवदार के जंगल वाली वटिया को दूर-दूर तक देख आया था। नदी के किनारे-किनारे भी। कहीं काका डूब पड़े होते तो लाश किसी किनारे पर तैरती तो मिलती ! आसपास के इलाके में भी कम पूछताछ नहीं की।

पर किसी दूसरी ही दुनिया में था, देवा का मन। उसे न जाने क्यों लगता था—काका भले ही कहीं हों, अब लौटकर घर नहीं आएंगे। घर में उस दिन जो कुछ विषपात हुआ, उसे देखकर उनका चेहरा कितनी निराशा से भर उठा था ! उसके बाद काका को किसी ने न बच्चों के साथ खेलते देखा, और न किसी से बोलते ही पाया। पधान से भी उखड़ी-उखड़ी बातें की···

पिछले महीने एक दिन देवा ने देखा था—

काठ के भकार में से पुराने चरखे को निकाल कर वह साफ कर रहे हैं। यह चरखा उन्हें परमानन्द पण्डित ने दिया था कभी। लोग कहते हैं —कभी काका रोज सुबह ब्राह्म-मुहूर्त्त में उठकर चरखा कातते थे। रोज 'वैष्णव जन' वाली बापू की प्रार्थना दुहराया करते थे। मंगल के दिन मौन रखते थे। किन्तु खेतों पर काम करने के बाद उनका यह नेम-नियम शनैः-शनैः शिथिल हो गया था।

इतने अर्से बाद काका को चरखे के साथ देखकर उसे कम अचम्भा नहीं हुआ···

देवा उठा। भीतर जाकर उसने देखा—वह साफ किया चरखा अब तक भी उसी तरह रखा है। उसी के साथ काका के कुछ पुराने कपड़े भी हैं—एक छोटी-सी पोटली में !

देवा उसे खोलने से अपने को रोक न पाया। उसमें फटे-पुराने खादी के कपड़े थे। पीले, फटे कागजों का एक छोटा-सा पुलिन्दा भी। जिसमें

लिखे अक्षर अब इतने धुंधला गए थे कि पढ़ पाना भी सम्भव नहीं था। सबसे नीचे चरखे की छाप वाला पुराना तिरगा भी तह करके रखा था—बड़े जतन से।

उन्हें वैसे ही समेटकर देवा बाहर निकल आया। कुछ और लोग भी ढूढ़ने निकले थे, जो अब तक लौटे नहीं थे।

पट-आगन मे बाहर से आए कुछ मेहमान बैठे थे, तमाखू पीने के लिए। वे कह रहे थे—काका को उन्होने लोहाघाट देखा था कल। कचहरी को जाने वाली ऊची सड़क पर लाठी टेककर, हाफते-हांफते चढ़ रहे थे। कुछ परेशान-से लग रहे थे।

काका के लोहाघाट जाने वाली बात देवा की समझ मे नही आई। काका हद-से-हद घनकोट पहुच सकते थे, फिर लोहाघाट कैसे जा पहुचे?

देवा भागता-भागता लोहाघाट पहुचा, परन्तु वहां काका न थे। तब तक जा चुके थे।

किसी ने बतलाया—काका का झगड़ा हो गया है। नौगांव के थोकदार-जिमदारो ने लोहार-हरिजनो की जमीन दाब ली है। गोचर का रास्ता भी बन्द कर दिया है। अतः समस्या यह है कि उनके गाय-डगर चरने के लिए कहा जाए ?

काका ने पचायत बैठाने की कोशिश की। कहते है, इस पर कृपाल सिंह थोकदार के आदमियों से कहा-सुनी हो गई। पटवारी-पेशकार भी थोकदारों का साथ देने लगे तो काका लोहाघाट की कचहरी मे सँप से कह आए है कि घनकोट के गरीबो की जमीन वापिस नही दी तो झगड़ा इस बार और बढ़ जाएगा। भले ही कुछ भी कीमत क्यों न चुकानी पड़े वे न्या लेकर रहेगे। अगर सरकार-दरबार मे न्या न मिला तो वे गजार देवता के थान में जाएंगे, घात हालने…!

पांच

देवा घनकोट पहुंचा तो एक और ही नज़ारा दीखा वहां। काका उलंचा के पेड़ के नीचे, कच्चे आंगन पर फटी चटाई बिछाकर बैठे हैं। आसपास कुछ और लोग हैं। काका के दुर्बल पांवों पर पट्टियां बंधी हैं। लोग बतलाते हैं—अंधियारे मे, शिबिया के आंगन के आगे, कीचड़ पर पांव रपटने के कारण चोट आई है। नमक और कच्ची हल्दी का लेप लगाने से अब कुछ आराम है। सूजन भी कम हो गया है···।

'घर—चलो—कका!' देवा ने कहा।

काका उसकी ओर देखते रहे—देर तक। फिर किंचित सोचते हुए बोले, 'यह भी तो अपना ही घर है देवा! जब गाधि बाबा के कहने पर जेल गए थे, तब हमने बरत लिया था कि सारा देश ही हमारा घर है। घर न बसाने की प्रतिज्या भी तभी ली थी। एक ही जगह पड़ा-पड़ा पानी मैला हो जाता है। उसमें काई लग जाती है। मुझे लगता है, अधिक सासारिक मोह-माया भी आदमी को अंधा बना देती है। किसी एक ही ठौर पर खूटे की तरह बंधा रहना वैसे भी घातक है। फिर अब उमर ही कितनी रह गई देवा···!'

'लेकिन काका···!' देवा ने अधीर होकर कहा।

'लेकिन, क्या? अब तुम सयाने हो। नन्दू भी बच्चा नही। आपस में मेल-मिलाप से रहो। एक-दूसरे का सुख-दुख देखो। मतभेद भी होते हैं। जहां बहुत बर्तन होते हैं, आपस मे टकराते भी हैं। किन्तु थैली का गुड़ थैली में ही तोड़ना चाहिए···! हमारे आनन्द की विधवा बहू अभागन है—बेसहारा। उसकी सहायता करो। घर-गृहस्थी की गाड़ी खींचो। दूसरों पर अधिक निर्भर रहने से आदमी लंगड़ा हो जाता है···।' काका बुद-बुदाते हुए बोले।

'नन्दू नादान है कका···उसकी बात का बुरा नही मानना चाहिए···।'

देवा कह ही रहा था कि काका हंस पड़े, 'अरे बौला, बच्चों की बात का बुरा मानता हूं ! उसमें अकल नहीं अभी । ठोकर लगने पर धीरे-धीरे सब सीख जाएगा···।'

फिर कुछ भी बोल न पाया देवा ।

हारे मन से अकेला ही घर लौटा तो सब स्तब्ध रह गए । काका के बिना घर की कल्पना ही असम्भव थी ।

बड़ी बहू ने उस रात खाना नहीं खाया ।

पति की मृत्यु के बाद वृद्ध काका का सहारा उसे बड़ी सान्त्वना देता था—बड़ा बल । किन्तु आज सहसा लगा कि जिस छप्पर के सहारे आंधी-तूफान, बरखा-घाम का सामना करती थी—वही टूटकर सिर पर आ गिरा है आज !

बाबा को न देखकर बच्चे भी उदास थे ।

छह

—धनकोट में फिर झगड़ा हो गया है—मार-पीट !

अस्सी पट्टी के हरिदत ने गांव मे आकर बतलाया तो सब आतंकित हो उठे ।

—लोहारों ने कह दिया है कि वे थोकदारों-जिमदारो के खेतों में मजूरी नही करेंगे । उनके हल की फाल, हंसिया, कसी को नही कारेंगे, न मरम्मत ही करेंगे । उनके घर ब्याह-शादी, नामकर्ण-बरपन्द के समय उपहार के रूप में ढोया नही ले जाएंगे । लोहारों ने लोहाघाट की कचैरी में जो मुकदमा पिछले महीने दायर किया था, उसकी पेशी भी लग गई है ।

—गांधि 'का उन्हें पूरी-पूरी मदद दे रहे है···।

—उन्होंने दाढी बढ़ा ली है । ब्यानधुरा के थान में जाकर सौं खाई है कि जब तक न्या नही होगा, दाढी नहीं कटाएंगे ।

इसका परिणाम यह हुआ कि थोकदारो ने अपनी दुकान से उधार सौदा देना भी बन्द कर दिया। कृपालसिंह ने जवाब भिजवाया कि धन-कोटिया लोहार अपने बाप की औलाद है तो अब तक उनसे लिए कर्ज की एक-एक पाई ब्याज पर ब्याज लगाकर लौटा दें।

स्थिति विस्फोटक होने लगी तो पटवारी-पेशकार भी घबराने लगे। कही ऐसा न हो कि नजला उन पर गिरे ! यह बात जगजाहिर हो चुकी थी कि उन्होने थोकदारों से जमकर रुपये खाए हैं।

काका ने यह बात चम्पावत, लोहाघाट तक ही नही, अल्मोडा, पिथौरा-गढ़ तक पहुचा दी थी। 'हियांली' अखबार मे तो छप भी गया था इन काले कारनामों का कच्चा चिट्ठा।

धुरा की बाजार बन्द रही। हल्दीखेत के मिडिल स्कूल के बच्चों ने हड़ताल कर दी तो तहसीलदार ही नही डिप्टी कलक्टर को भी ध्यान देना पड़ा।

झगडे मे झाड़ डालकर अन्त मे यह निर्णय मानना ही पड़ा कि थोकदारो-जिमदारों को जमीन छोड़नी पड़ेगी तथा गौचर के लिए बटिया भी देनी होगी।

सात

इस जीत ने काका के सामने जहां कई रास्ते खोल दिए, वहां कई मार्ग कंटकमय भी बना डाले। हार का बदला लेने के लिए लोग नई-नई तरकीबें निकालने लगे। देवदार के पेडों की कटाई के मामले मे पधान के लड़के घनश्याम के साथ-साथ अब पटवारी ने देवा का नाम भी जोड दिया था।

काका ने सुना तो तनिक भी विचलित नही हुए। केवल देर तक बच्चों की तरह हसते रहे।

नन्दू को ठरुवा शराब पिलाकर थुआ के ठाकुरो ने उसकी जमकर

पिटाई की—यह समाचार भी काका तक पहुंचाया। यह पहुंचाना भी न भूले कि काका ने जगुवा लोहार की जमीन छुड़ाने के लिए किसनसिंग से जो करजा लिया था, उसके लिए काका की जमीन की दिन-दहाड़े कुड़की कराई जाएगी…।

काका अब दिन में एक ही बार भोजन करते।

तीस जनवरी को उन्होंने पूरे दिन जल तक ग्रहण नहीं किया।

शाम को आसपास के बच्चों, बूढ़ों को पास बिठाकर बोले—

'अब तक मैं समझा था, सुराज आ गया, गांधि बाबा का सुराज! अपने लोगों का राज! पर अब लगने लगा है, सुराज नहीं आया, और न फिलहाल आने ही वाला है। यह पटवारी का राज है। थोकदार-जिमदारों का! गरीब के लिए, लाचार के लिए यहां कहीं कोई जगह मुझे नहीं दीखती…। फसल कोई बो रहा है, काटता कोई और है। मेहनत हम करते हैं—मालिक कोई और है…। जिनके पास खेत नहीं, कोई और काम धन्धा नहीं, वे कहा जाएं? पेट पालने के लिए माल जाते हैं—तराई-भाभर, तो कम जुलम नहीं होते। काम के बदले पूरी मजदूरी नहीं मिलती। बहू बेटियों के साथ क्या-क्या नहीं होता!

'मैं जब सारी बातें सोचता हूं। देखता हूं कि दोष उनका ही नहीं, आप-हम— सबका है। यदि हम इसी तरह अपने को सताए जाने देंगे, तो वे सताते रहेंगे। बैकर-मजदूरी भी हमें पूरी-पूरी नहीं मिलेगी। पदिया लोहार की ज्वान-जवान बेटी को बस का देसी ड्राईभर क्यों बरेली भगा ले गया? अब तक सोबनिया की लाश का पता क्यों नहीं चला? दस रुपया करज के बदले भीनाराम क्यों बुधानन्द मास्टर के खेतों में जिन्दगी-भर हल चलाता रहा? मरने पर बुधानन्द ने उसे कफन तक क्यों नहीं दिया?'

काका की बातें सबकी समझ में नहीं आतीं, पर इतना भर अवश्य लगता कि काका जो भी कहते हैं, भले के लिए।

वर्षों तक सोए सीधे-सादे काका में यह परिवर्तन कहां से आया? कैसे आया? किसी की समझ में नहीं आ रहा था।

जिन्दगी भर वह परमानन्द पण्डित का झोला थामे, पीछे-पीछे लगे

रहे—गूंगे पशु की तरह—लुड-लुड। दुबले-पतले मरियल से, दिन-रात मिट्टी में सने रहने वाले काका के आखर सुनकर लोगों की आंखें खुली-की-खुली रह जाती!

काका जब बोलते तो उनके मुह से चिंगारियां-जैसी निकलने लगती!

रात को गरीबों के बच्चों को पास बुलाकर काका बारह खड़ी और वरनमाला के अक्षर काठ की काली पाठियों पर लिखकर सिखलाते। पढ़ने-लिखने से ही गियान आएगा। और गियान से ही शक्ति!

जिन बच्चों के पास कागज़-पेंसिलें न होतीं, पाठशाला की फीस नहीं—काका उनके लिए भीख माग-मांग कर पैसे जुटाते।

जब इलाके के अधिकाश लोग जाडो मे दो रोटी का जुगाड करने, धूप तापने, माल-भाभर की तरफ उतर जाते तो घरो की रखवाली के लिए रह गए असहाय वृद्धों, दुर्बल बच्चों और लाचार महिलाओ की देख-रेख काका घर-घर जाकर करते। कई बार तो भयकर शीत से ठिठुरकर मरने वाले किसी अभागे वृद्ध की लाश उठाना भी एक समस्या बन जाती थी। पर काका के जीते-जी कोई अनाथ कैसे रहता?

आठ

पूस आधा भी बीता न था।

इधर तीन-चार दिन मे लगातार बर्फ गिर रही थी। रास्ते, पेड-पौधे, खेत-खलिहान, छत-आंगन सब बर्फ की सफेद चादर से ढके थे। इस साल पूस मे हिया ज्यादा हुई, इसलिए लोगो का अनुमान था कि गिया (गेहूं) की फसल अच्छी होगी।

भीगी मुडी हुई रस्सी की तरह बल खाती, संकरी पगडण्डी पर, बर्फ में अपने को धंमने मे बचाती हुई एक क्षीण छाया-सी गांव की तरफ आ रही थी।

सूरज डूब चुका था। पहाडों की चोटियों से घना कुहासा फिसलता

हुआ, नीचे अंधेरी घाटियों की ओर खिसक रहा था। ठिठुरते पौधे, पत्र-हीन ठूंठ वृक्ष—दूर कहीं आसमान से घुल-मिल गई हिम से लदी पर्वत चोटियों के अतिरिक्त कहीं कुछ नहीं दीखता था।

पहाड़ों में वैसे ही सूरज कम दीखता है, उस पर जाड़ों में तो और भी कम—और भी ठण्डा। बुझा-बुझा-सा।

लोग किवाड़ बन्द किए घरों मे दुबके बैठे थे, आग के सहारे। इने-गिने कुछ घरों के ऊपर धुआं-सा घिरता दीख रहा था। इसी से मालूम होता कि सम्भवतः इनमें कोई प्राणी रहते है। कहीं कोई प्रकाश नहीं—अंधेरा-ही-अंधेरा।

'टिक्-टिक्' द्वार के मोटे धुमरैले द्वार पर तभी आहट हुई तो भीतर की किसी गुफा से भयभरा क्षीण स्वर गूंजा, 'कौन…?'

'मएं—!' सनसनाती हुई-सी तेज सरसराहट के कारण स्पष्ट कुछ सुनाई नहीं दे रहा था।

दरवाज़े के आर-पार लगा काठ का 'आड़ा' हटाते ही वह पीछे हट गई, 'ससुर ज्यू आप—!' फटी पिछौड़ी का आंचल उसने कुछ और लम्बा कर लिया, संकोच से। तन पर टंगे चीथड़ों से लाज ढकना उसे कठिन लग रहा था।

'बहू—!' कपड़ों पर जमी बर्फ को गर्द की तरह झाड़ते हुए वह भीतर चाक-बरामदे पर खड़े हो गए। टूटे खिलपट के जूतों से पानी निथर रहा था। सारा शरीर ठण्ड से थुर-थुर कांप रहा था। सांस छोड़ते ही मुंह से ढेर सारी भाप बिखर रही थी।

'पिपलाटी जाते-जाते खियाल आया, बच्चों की कुसल-बात भी पूछ लूं!'

सामने ही रौंड़ मे आग जल रही थी। उसी के पास फटी बोरी का अधजला टुकड़ा डाल दिया।

तनिक दूरी पर बड़ी बहू अब तक सहमी-सहमी-सी खड़ी थी।

'माल-भाभर जाते वखत मन्दू बतला गया था कि घर के बांट-बट-वारे हो गए हैं!' वह बोरी पर बैठते हुए बोले।

'हां, छोटी ने जिद की तो वे बिचारे भी क्या करते?'

'तेरा तीसरा भाग तुझे दिया ?' गांगि 'का ने पूछा ।

बडी बहू चुप रही।

'वे माल-भाभर के लिए कब रवाना हुए ?'

'असौज पन्दरह गते को।'

'तू क्यों नही गई ? एक-आध महीने घाम ताप आनी। वही दुगाडी —सैनापानी मे धान कूटकर, घास बेचकर पेट पल जाता!' गांगि 'का के इस प्रश्न पर भी वह मौन रही तो जैसे स्वयं को समझाते हुए वह फिर बोले, 'हा, ठीक तो किया ब्वारी (बहू), वहा कौन तुम्हारा छप्पर-टट्टर बंधवाता ! किसके सहारे रहती !'

'यहां खाने के लिए गेहूं-दाना, बाड़ी-मंडुवा कुछ जुटाया...?' उन्हें सहसा जैसे कुछ याद आया।

'मैके से ठुल 'दा कल कुछ दे गए थे...!'

रात को भोजन के लिए बडी बहू ने मंडुवे के आटे के काले-काले चार टिक्कड़ बना लिए। ठुल 'दा साथ मे दो आठी, पालक भी बाध लाए थे। उसे तवे में भूनकर, सूखी लाल मिरच के टुकडे कुतरकर सब्ज़ी बना ली।

'सुना था कि नदिया ने तीन बराबर-बराबर भाग नही होने दिए! देवा ने कुछ कहा तो उस पर भी हाथ उचाया!' बूढे दांतो से सूखी छाल जैसी सख्त रोटियां चबाते हुए गांगि 'का ने पूछा।

परन्तु बडी बहू चुप रही। बोल कुछ भी न पाई।

'वे सब तो करने-धरने वाले हैं—समरथ! रोटी का बनोबस्त कैसे-न-कैसे कर ही लेंगे। पर, बहू, तेरा क्या होगा ?' गांगि 'का का स्वर लड-खडा आया, 'इतनी लम्बी पहाड जैसी जिन्दगी पडी है, इसे तू कैसे गुज़ारेगी इन भूतों के बीच ?...वहां से लिवाकर ही नहीं लाई मुला, तो यहां कोई क्या करे...?'

बडी बहू ने आंचल का छोर आखो पर रख लिया।

'तलाऊ खेत भी तुम्हे नही दिए होंगे...! खुमानी-पेव के पेड़ो मे भी तुम्हारा हिस्सा नही किया होगा...! हा, तुम्हारे गहने-पत्ते तो तुम्हे दे दिए न ?'

'न्तां'—! वडी वहू सिसककर रो पडी ।

'ऐसे हिरदयहीन खवीस निकलेंगे मे, ऐसा तो मैंने कभी सोचा भी न था।' काका जैसे कराह उठे, 'मैं दुनिया-भर मे न्या के लिए झगडता फिरता हूं, और मेरे अपने ही घर मे ऐसा अंधेर !' काका की धुंधली, वुझी आंखो मे रक्त छलक आया ।

'माल-भाभर से उन्हें आने दे, मैं सारा बंटवारा फिर कराऊगा । भाभी मां के बरावर होती है। इतने जनें होकर एक तुझे नहीं पाल सकते ?' गांगि 'का से फिर रोटी निगली न गई । वैसे ही हाथ धोकर मुह पोंछकर वह आग के पास बैठ गए ।

'तू चिन्ता न कर। जव तक मैं जिन्दा हूं, तुझे घास-टुकड़े का अभाव नहीं रहेगा । सरकार की तरफ से मुझे जो पिनशन मिलती है, उसे तेरे नाम करवा दूंगा—तेरे नोन-तेल का वनोवस्त हो जाएगा···हमारा आनन्द कहता था—कका, इस चैत मे दो कमरे और डलवा दूंगा । एक आपके पूजा-पाठ के काम आएगा, दूसरा मिहमानों के लिए···! पापी, खुद ही भाग निकला हम सवको मंझधार में डुवोकर···!' काका की बूढ़ी आखों के आगे ठण्डा कुहासा-सा घिर आया।

नौ

'कका के वचने के आसार कम है।'

किसी ने एक दिन गांव आकर बतलाया ।

किसी जरूरी काम से काका को माल-भाभर जाना पड़ा—वहीं जर-बुखार शुरू हो गया । एक तो वैसे ही दुबले-पतले हड्डियों के ढांचे, उस पर बीमारी !

विस्तर पर काका ऐसे गिरे कि फिर महीनों तक उठ न पाए ।

साधनहीन होते हुए भी गांगि 'का हर तरह से सम्पन्न थे। अण्टी में धेला-टका कुछ भी न होने के वावजूद काम अटकता न था । जहां भी

जाते, सब श्रद्धा से देखते। इसलिए बीमारी की इस हालत में भी टहल में किसी ने कोई कोर-कसर नहीं रखी।

एक महीने बाद जब मूग के पानी का पथ खाया, तो मानसिंग वैद किसी तरह उन्हें उठाकर बनबसा ले आया। मानसिंग का पूरा परिवार गांगि'का की सेवा मे दिन-रात जुटा रहा। कहा जाता है कि गांगि'का और मानसिंग बैद के पिता दोनों मित्र-भाई थे कभी।

काका जब कुछ चलने-फिरने लायक हो गए तो उनके प्राण पहाड के लिए खिचने लगे। धनकोट का मुहनियां गाय-बछियों के लाने माल गया था। अपने भोटिया घोडे पर बिठाकर वह काका को घर ले आया।

अब तक काका का शरीर भाभर में था, किन्तु परान बार-बार उड कर फिर कहीं भटकता रहता। बीमारी की हालत में ही उन्होंने सुन लिया था कि धनकोट वालों से फिर जिमदारों का मनमुटाव हो गया है। इस बार रार बेनाप जमीन की वजह से शुरू हुआ है। धुनी धार के जंगल लोहारों ने आबाद किए। जाडों में गड्ढे खोदकर, खाद डालकर सेब और तुमडिया नाशपाती के पौधे लगाए। ढलवां जमीन को चौरस बनाया। सीढीनुमा खेतों में बदला और सब जिमदारों का कहना है कि वह जमीन उनके खेतों के निकट है। इसलिए पहला हक उनका है।

रात के समय उन्होंने अपने गाय-डंगर छोडकर, सारे पौधे जड से साफ करवा दिए। काका ने अन्त में जब यह सुना तो तडप उठे।

मरते-जीते किसी तरह जब वह धनकोट पहुंचे तो सब झपाझप उनके चारों ओर घिर आए। उन्हें अपने बीच देखते ही सब के मडछाई पडे बुझे चेहरों पर नई चमक उभर आई। 'कका आ गए', 'कका आ गए'—गांव-भर में खुशी की लहर छा गई।

किसनी की बूढ़ी दादी हाथों से रास्ता मसार-मसार कर किसी तरह आंगन तक आई, 'आपके लिए त्योनरा भाई के थान में सवा का पाठ भाख रखा है—कका बचकर आ गए तो फटकशिला में दसें के मेले के बखत लाल धज चढाएंगे। हमारी खिमली कहती थी। मरते समय हमारा जोगिया 'कका' 'कका' कहता रहा···।' वृद्धा की धुंधली पलकों पर आंसुओं का झालर लटक आया।

'तल्ले पर किन्ना ने पढ़ना छोड़ दिया···!' उमिया दर्जी के मझले बेटे दलीप ने तुतलाकर कहा।

काका ने उसे गोद पर बिठला कर चूम लिया।

'कका, हमारे यहां सब कहते हैं ···।' ससुराल से मैके आई बिरली कहती-कहती अटक गई।

'क्या कहते हैं···?'

'गांगि' का बामन होकर भी लोहारों के साथ रहते हैं···!'

काका बच्चों की-सी निश्छल हंसी में हंस पड़े, 'कहने दे। लोहार क्या मानुस नहीं होते रे?'

किस तरह से धूरा में लगाए पौधे जड़ से उखाड़ दिए, किस तरह से सारे जिमदार लाठी उचाकर मारने आए—काका ने यह सुना तो देर तक कहीं गहरे में डूबकर सोचते रहे।

तन में अब इतनी शक्ति नहीं थी कि भाग-दौड़ कर सकें। कहीं आ-जा सकें। किन्तु खाली हाथ-पर-हाथ धरे बैठे रहना भी उनके लिए संभव न था। अतः सरकार-दरबार में उन्होंने दरखास्त दे दी—

—लोहारों ने जो जमीन आबाद की, वह बेनाप की थी—सरकार की। जंगल को साफ करके पहले-पहल खेती लोहारों ने की। इसलिए पहला हक इन्हीं गरीबों का होना चाहिए। इनके पास दो हाथ अपनी जमीन भी नहीं। दूसरों के खेतों में काम करके गुजारा चलाते हैं। थोकदार-जिमदार हर तरह से समर्थ है—कचहरी-कोरट जा सकते हैं, पर इन बेचारों के पास पैसा कहां! दिन भर हाड़ तोड़ने के बाद भी दो जून रूखी रोटी नहीं जुट पाती। ये गूंगे अपनी फरियाद लेकर कहां जाएं?

परन्तु सरकार-दरबार के पास दिल कहां, जो इनकी बातों पर रहम किया जाता! अतः अन्त में जो होना था, होकर रहा। मामला लोहाघाट की कचहरी में चला गया।

दिन में ही काका को अंधियारा दिखलाई देने लगा।

ज्यों ही चलने-फिरने की कुछ शक्ति शरीर में आई, घिंघारू की लाठी टेक कर गांव-गांव घूमने लगे।

धेला-टका जो भी चन्दे में मिलता, झोली में जमा कर रहे थे। कचैरी

के काम आएगा।

चन्दे के ही सिलसिले में काका एक बार फिर गाव आए थे।

बड़ी वहू के तन पर, लाज ढकने के लिए पूरे चीथड़े तक नहीं थे, इस बार। किसी ने बतलाया—जो भी बचा-खुचा इसके पास था, नन्दू ने वह सब भी छीन-झपट लिया है। बड़ी बहू ने प्रतिरोध किया तो निठोर गाय हाकने वाली लोद की लाठी से घुमेमार मारने लगा। लोग बीच-बचाव नही करते तो जाने क्या हो पडता!···बड़ी बहू को दूसरों के खेतों में मिहनत-मजूरी करके भी एक वखत की रोटी नसीब नहीं हो पा रही है। कभी-कभी थोड़ी-बहुत सहायता देवा न करता तो न जाने कब की फासी लगा कर मर चुकी होती···!

गांगि 'का को आगन मे खडा देखते ही वडी वहू मैली गठरी की तरह उनके पावों पर गिर पडी।

हतप्रभ-से देखते रह गए काका—इन कुछ ही महीनो मे सूखकर घिघारू का कांटा मात्र रह गई है! आखें बुझी-बुझी। चेहरे पर काली-कालो झाइया!

'हू ब्वारी, यह क्या?' काका ने विस्मय से पूछा।

प्रत्युत्तर में बड़ी बहू बुरी तरह फट पड़ी—सिसक-सिसक कर।

'अपनी पिनशन के रुपए भिजवाए थे। नहीं मिले क्या···?'

काका ने नन्दू को बुलाया, 'मेरे जीते-जी नदिया, बहू इस तरह अनाथ हो गई तो मेरे मरने के वाद क्या नही होगा?' काका का स्वर भीग आया। आक्रोश-भरी लडखडाती आवाज मे वोले, 'कहा तो दुखियारी को सबसे बड़ा भाग देते, कहा इसका ही हक तुम लोगो ने गिद्धों की तरह झपट लिया है। अपने ही घर में ऐसा अनर्थ करके कहा जाओगे?··· किसी नरक में भी ठौर न मिलेगी। इसके लिए पिनशन के कुछ रुपए भिजवाए थे, वे भी तुमने हड़प लिए···!'

इतने में खेतों से देवा आ गया—कन्धे पर कसी-कुदाली रखे।

'देवा', काका ने उसे रोकते हुए बड़ी वेदना से कहा, 'अगर आज तुम्हारी मा होती तो क्या उसे सड़क पर भीख मागने के लिए छोड़ देते? यदि कल मेरे बूढे हाथ-पाव न चल सकें तो क्या मेरी परवरिश नही

करोगे ? अगर तुम्हारी कोई बहन होती, अभागन विधवा हो जाती तो क्या उसके साथ ऐसा ही निठोर व्यवहार करते ? हमारा आनन्द आज जिन्दा होता और किसी पर ऐसी बीतती न जाने क्या-क्या नही कर डालता ? अभागे ने खुद न पढ़कर तुम्हें पढाया। दो आख वाला बनाया और तुम लोगो ने इस अभागन की ऐसी दुरगत कर दी ! यह दो-दो दिन तक भूखी रहे और तुम इसी के सामने बैठकर चौके मे रोटी कैसे निगल लेते हो ? सचमुच तुम राकस हो, राकस···!' काका बच्चों की तरह रो पड़े।

उस रात खाना भी घर मे उन्होंने नही खाया। पानी भी नही पिया।

'जिस घर मे ऐसा जुलम होता है, उस घर का अन्त-जल मैं कैसे ले सकता हू ?' काका ने कहा और उठकर चले गए।

अपनी जिन्दगी में काका इतने हताश कभी नही दीखे थे। तन-मन से अपने को इतना अशक्त, असहाय अनुभव कर रहे थे कि उनसे चला भी नही जा सकता था।

दस

काका को धनकोट पहुंचे अभी पांचवां ही दिन था कि उन्होने देखा— द्वार पर उदास-सा देवा खडा है।

'कब आए ?'

'अभी।'

'घर मे कुसल-बात सब ठीक है न !' इस रूप-रंग मे इस तरह घबराए खड़े देवा को ओर देखते ही, काका ने सहज ही प्रश्न किया।

'हा, सब ठीक है···।' पास ही पड़े फटे फीने के टुकड़े पर देवा गुमसुम-सा चपचाप बैठ गया।

काका के आसपास कुछ और लोग भी घिरे थे। बेनाप जमीन के प्रश्न पर गम्भीर बातें हो रही थी। मुकरदमे की तारीख नजदीक थी।

बैठे-बैठे जब सांझ ढलने लगी, तब देवा से नही रहा गया। काका को

तनिक एकान्त मे, झोंपडी के पिछवाडे ले जाकर बोला, 'गजब हो गया कका…!'

'क्या ? क्या ?'

'ठुल बोज्यू ने कल रात दुल्ल के पेड पर लटक कर फांसी खा ली है। …किसी अपने रिश्तेदार के ब्याह मे पटवारी चल्यो गया है। कल सुबह तक लौटेगा…। लाश अब तक लटक रही है…!'

काका की आंखें खुली-की-खुली रह गईं।

फिर किसी तरह अपने को सयत, सन्तुलित कर बोले, 'यह सब भी एक दिन होगा देवा, मै जानता था…जानता था…।' इत्ता कहते हुए काका वही जमीन पर बैठ गए, कपाल पर हाथ धर कर।

देर तक वह आखें मीचे बैठे रहे।

'तहकीकात के लिए कोई आया—?' सन्नाटा तोडते हुए उन्होने ऊपर देखा।

'अभी तक तो नही…।'

'जब तक पटवारी नही लौटता, हो भी क्या सकता है?' काका ने बुदबुदाते हुए ऐसे कहा, जैसे स्वयं को सुनाकर कह रहे हों।

'लाश अभी तक भी उसी तरह है…!' विवश भाव से देवा बोला।

रात के सघन अन्धकार में काका के लिए रास्ता देख पाना सम्भव नही था। फिर भी मरते-जीते…किसी तरह गाव तो जाना ही था। चीड के छिक्कलों को जोडकर राकी जलाई। उसी के धुधले प्रकाश मे, ऊबड़-खाबड, कच्चे रास्ते को टटोलते हुए, किसी तरह आधी रात के समय गाव पहुच ही गए।

लाश के पास आग जलाकर गांव के सभी लोग सारी रात 'पौरा' कर रहे थे। किसी भी समय पटवारी धमक सकता था।

चारो ओर दहशत का वातावरण था—घोर आतक था। पता नहीं पटवारी तहकीकात में क्या-क्या लिख ले जाएगा! पता नही किस-किस को दोषी ठहरा कर जेल की सज़ा दिलाएगा! गाव मे कैसी तबाही होगी? कैसी बर्बादी? इस तरह की मृत्यु का अर्थ था, सारे गाव का सर्वनाश!

काका के पहुंचने पर सबको धीरज बंधा कि पटवारी अब अधिक तग

नहीं कर पाएगा। काका सज्जन थे। कोई उनके सामने ऐसा-वैसा करने की हिम्मत नहीं जुटा पाता था।

पर यहां सबसे अधिक परेशान था—पधान। देवदार के पेड़ों की चोरी से की गई कटाई के प्रश्न पर पुत्र पहले ही गले-गले तक फंसा हुआ था। अब सामने खड़ी, यह नई मुसीबत क्या करवट लेगी—कहना कठिन था।

पटवारी के बदचलन होने से सब और भी अधिक आतंकित थे। गांव में पटवारी-पुलस का आना वैसे भी अशुभकारी माना जाता है। पर इसे देखते ही सबके प्राण सासत मे पड जाते है—इसके बारे मे प्रचलित था कि यह घूस खाता है। देसी ठर्रा भी जमकर पीता है। इसके अलावा लंगोट का भी कच्चा है···।

—कका, अब क्या करें? पीताम्बर दत्त हताश होकर बोला।

—गाव उजड गया कका! टिकाराम ने आह भरते हुए कहा।

बड़ी बहू का दुखियारा भाई अभी-अभी घर से आया था। बाज के पेड़ के नीचे बठा चुपचाप रो रहा था।

नन्दू की बहू घर से बाहर नही निकल रही थी। नन्दू भीड़ की निगाहों से बचने की कोशिश कर रहा था।

अभी पौ भी नही फटा था कि लोगो ने विस्मय से देखा—धरमसिंग पटवारी, अपने सटवारी हीरावल्लभ के साथ यमदूत की तरह सामने खड़ा है। झोले से हथकड़ी की रस्सी बाहर झांक रही है। सटवारी के कन्धे पर दुनाली बन्दूक रखी है। गले पर लाल-लाल कारतूसों की माला!

पटवारी का बिस्तरबन्द सिर पर रखे पतिया रयांला पीछे खड़ा है।

अपने दाहिने हाथ में पटवारी एक मोटा-सा चिकना डण्डा हवा में घुमा रहा है। जिसकी मूंठ पर काला चमड़ा कसा हुआ है।

पटवारी को देखते ही सब चौकन्ने होकर उठ खड़े हो गए—चारों ओर से घिर कर।

'खून कब हुआ···?'

पधान भीड़ को चीरकर, कांपता-कांपता, हाथ जोड़ता हुआ सामने आ खड़ा हुआ, 'सरकार माई-बाप···परसों रात···दो घड़ी रात गए···।'

बड़े रहस्यमय ढंग से पटवारी ने होंठ भींचे। डण्डा कुछ और जोर-से गोलाई में घुमाता हुआ, शाख पर झूलती लाश को देखता रहा।

चारों ओर श्मशान का जैसा असह्य सन्नाटा था।

सब आंखें फाड़े, मुंह खोले पटवारी की ओर देख रहे थे—देखें, पटवारिज्यू अब क्या कहते हैं?

'कपड़े फटे हैं—तार-तार! पावों पर भी खरोंच है। लगता है, गले पर फन्दा डालकर लटकाने मे हरामजादों को बड़ी मेहनत करनी पड़ी है।'

'हजूर सैप, ऐसा नहीं···।' जोधसिंह ने हाथ जोडते हुए विनम्र वाणी मे कहा, 'यह तो मुला, खुद ही झूल गई थी—ना-समझ! जिन्दगी से परेशान थी···।'

जोधसिंह की बात अभी पूरी भी न हो पाई थी कि पटवारी ने आव देखा, न ताव! ठलम्-से डण्ड की भारी चोट उसके नंगे सिर पर दे मारी।

जोधसिंह 'उ इजा' कहता हुआ, सिर दबाता हुआ, वहीं पर, वैसा ही बैठ गया। उसकी आंखों के आगे तारे झिलमिलाने लगे थे।

'गले पर नाखूनों के जैसे निशान हैं! लगता है जमकर छीना-झपटी हुई है···!' पटवारी लाश को निकट से झांकता हुआ बुदबुदाता रहा।

सब ऊपर की सांस ऊपर, नीचे की नीचे रोके खड़े थे।

'रस्सी काटकर लाश नीचे गिरा दो···!' पटवारी ने भीड को सम्बोधित करते हुए कड़ककर आदेश दिया।

रूपराम गोली की तरह दौडता हुआ देवा के घर मे घुसा और बड़ियाठ उठा लाया।

रस्सी काटकर लाश को बड़े जतन से पकडकर, कच्ची जमीन पर लिटा दिया—घास के ऊपर।

शिकारी कुत्ते की तरह पटवारी अब चारो ओर घूम-घूमकर लाश का निरीक्षण करने लगा। 'कपड़ा हटाओ', 'लाश उलटी करो', 'अब यों सीधा करो', 'यों-यों इस तरह से'—अनेक आदेश वह देता चला गया।

इस बीच उसने सिगरेट सुलगा ली थी। बड़े रहस्यमय अन्दाज मे आंखें मूदकर, बड़े संयत तरीके से सिगरेट का धुआ छोड़ रहा था। सहमा

उसने आंखें खोली, 'लगता है कि इस बेचारी के साथ कमीने कुत्तों ने बड़ी बेरहमी से बदफेली की और बाद में लाश को पेड पर लटका दिया !'

'राम-राम', 'शिव-शिव', कहते हुए मनिराम पण्डित ने आसमान की ओर हाथ जोड़ दिए, 'परमेसर के लिए ऐसा मत कहिए ठाकुर सैप ! हमारे गांव के लोग गरीब जरूर है, बदचलन नहीं। फिर यह तो छातछात देवी थी। आंख उठाकर भी कभी इसने किसी की तरफ नहीं देखा।'

उसकी बात पर पटवारी एकाएक ताव खा बैठा। बोला, 'चोप्प ! साला पाखण्डी !' पटवारी ने डण्डे से उसे जोर से कौचा, 'साल्ला, बड़े शरीफों का गांव बतलाता है इसे ! औरत हवा में झूल रही है, इसी से पता चल जाता है कि इस गांव में कैसे-कैसे 'सन्त' रहते हैं···!'

पीछे बैठे गांगि 'का तभी आगे आए। उन्होंने बीच-बचाव करके सबको शान्त किया।

पधान के घर से पटवारी के लिए कांसे के लोटे में गरम-गरम 'चा' आ गई।

पीतल के भारी गिलास मे उड़ेलकर पटवारी गरम चाय को फूंककर होंठों से किंचित छुआकर पीने का प्रयास करता रहा। 'जर-जमीन के मामले में किसी से लाग तो नहीं ?' बोला।

सबने 'नही' की मुद्रा मे मौन-भाव से सिर हिला दिए।

'किसी से झगड़ा-फसाद—?'

'न-ही।'

'तो क्या साली पागल थी, जो यों ही पेड़ पर लटक गई ?' पटवारी ने अपने भड़कते हुए आक्रोश को तनिक संयत करते हुए कहा।

'पंचायतनामा करके लाश फूंक दो—तिथानी में—!' गांगि 'का लम्बा मौन तोड़ते हुए बोले।

'पण्डित 'का, आप दाने-सयाने हैं···बुजुर्ग। किसी तस्तीकाद किए बिना लाश को जलाना ठीक नही। कल कोई भी बात उठ सकती है। आप यह क्यों भूल जाते हैं कि यह हत्या या आत्महत्या का मामला है।'

काका कहना चाहते थे, यह हत्या या आत्महत्या का नहीं, पापी पेट के लिए दो टुकड़े न जुट पाने के कारण सिर्फ भूख से मौन का मामला है।

किन्तु थोड़ी देर सोचते रहने के पश्चात् बड़े कष्ट से बोले, 'पटवारिज्यू, जब तक यह अभागन जिन्दा रही, दुख उठाती रही, पर मरने के बाद भी इसकी मिट्टी खराब हो रही है ! कहा क्रिया-कर्म ! कहां तरपन, सराद !'

'कानून का पेट तो भरना ही पड़ेगा, पण्डित 'का ! आप बीच में बोलेंगे तो मुझे तहकीकात मे कठिनाई होगी। भला इसी मे है कि आप चुप रहिए और पुलिस को अपना काम करने दीजिए'''।'

दोपहर तक स्थिति अनिश्चित रही। पटवारी की अण्टी अच्छी तरह गरम हो जाती तो झमेला नही बढता। अन्त में निश्चय हुआ कि चीर-फाड़ के लिए लाश को लोहाघाट के अस्पताल में ले जाना होगा। अब अधिक देर करना ठीक नही। लाश सड़ रही है। बदबू के मारे पास बैठ पाना भी कठिन हो रहा है।

पटवारी का आदेश सर्वोच्च न्यायालय के आदेश से कम नही था। अतः गांव के लोगों ने मोटी चादर में लाश को लपेटा। उसे एक मोटे-मजबूत लट्ठे से बाधा। आगे-पीछे एक-एक आदमी लगाकर लाश कन्धे पर जोक ले गए—लोहाघाट की ओर।

ग्यारह

चीर-फाड़ के बाद डाक्टरों ने हत्या नहीं, आत्महत्या की ही सम्भावनाएं अधिक बतलाई। और क्षत-विक्षत लाश सगे-सम्बन्धियों को सौंप दी।

रिखेसर में ही सदगति करके जब सब गांव लौटे तो वहां और नई समस्या उठ खड़ी हुई।

पटवारी ने सारी पड़ताल नये सिरे से शुरू कर दी थी। वह बात को जड़ से पकड़ना चाहता था—

विधवा दिवंगता का पति आनन्द इत्ती कम उमर मे कैसे मरा ? क्यों मरा ?

सबसे अधिक तूल पटवारी ने इसी प्रश्न पर दिया। विस्तार से यह

भी पूछताछ की कि उससे या उसके परिवार से किसी का पुराना-पुश्तैनी बैर तो नही था ?

किसी ने बतला दिया—सदानन्द के ठुल 'दा की कका के परिवार से लगती थी। उसने एक बार कका को किसी मामले में लपेटने की भी कोशिश की थी। टाल (इल्जाम) लगाया था कि उन्होने किसी औरत को बेचने की कोशिश की थी।

इतना सुनना भर था कि पटवारी चुटकी बजाता हुआ उछल पड़ा—'राज की बात अब आई न सामने ! ह, हो पधानज्यू, आप क्या कहते हैं ?'

पधान बेचारा क्या कहता !

रातोंरात सदानन्द को देवीधूरा से घसीटकर लाया गया।

कच्ची जमीन पर डण्डा पटकते हुए पटवारी ने कहा, 'तो तुम लोगों का पुराना बैर था, गांगि 'का के परिवार से ?'

हाथ जोड़कर सदानन्द खड़ा हो गया—कांपता-कांपता, 'माई-बाप गांगि 'का तो छाच्छात देवता हैं—भले मानुस ! उनसे किसका बैर होगा ?'

'सुना है, तुम लोगों ने इन पर 'टाल' लगाने की कोशिश की थी...!'

'यह तो सर्कार बौत-बौत पुरानी बात है। ठुल 'दा जब जिन्दा थे, तब सुना था एक बार थोड़ी-बहुत कहा-सुनी हो गई थी। बाद में तीसरे ही दिन सुलह-सफाई भी...।'

'गुस्से में सुना है, तुम्हारे ठुल 'दा ने यहां तक कहा था कि हम बदला लेकर रहेंगे...!'

'हजूर, बोल-चाल के बखत मुंह से निकल पड़ा होगा ! इस बात को अब पच्चीस-छब्बीस साल हो गए हैं।'

पटवारी ने तड़ाम से एक डण्डा कसकर उसकी कमर पर जमाया, 'कुतिया के डण्ट ! बदला तो सौ साल में भी लिया जा सकता है ! क्या यह नही हो सकता कि आनन्द की मौत में तुम्हारा भी हाथ हो। हो सकता है कि छिपे तौर पर तुम लोगों ने उसे धमकाया हो। और दहशत के मारे उसके प्राण निकल गए हों। सुना है रात को बिस्तर पर वह मरा हुआ पाया गया था। बाद में उसकी विधवा की भी तुम लोगों ने मिलकर खूब दुरगत की हो—क्या यह नही हो सकता...?' पटवारी ने पच्च्-से जमीन पर

थूकते हुए, अजीव कड़ुवा-सा मुह बनाया, 'खबीसों की औलाद हो तुम सब ! देवीधूरा मे भी तो तुम लोगों ने भेडुवा डाक्टर को जूते से पीटा है अभी !'

सटवारी की ओर मुड़कर बोला, 'इस सुंगर के बीज को हथकड़ी लगाकर नीचे गाय-डगरों के गोठ मे वन्द कर दो। असली हत्यारा यही है।'

पूरे हफ्ते-भर से भी ज्यादा दिनों तक सारे गाव वालों की इसी तरह, एक-एक कर धुनाई होती रही। हत्या और जुर्म के अपराध कई सिरों पर मढे जाते रहे।

जब तक पटवारी की दोनों जेबें भली-भांति ऊपर तक गरम नही हो गई, वह लोगों को चूटता-पीटता चला गया।

गांगि 'का से रहा नही गया। ज्यों ही क्रिया-कर्म का काम समाप्त हुआ, वह सीधे पटवारी के डेरे मे जा धमके। बोले, 'अब भी कोई और जुलम करना बाकी है सरकार ?'

'पण्डित 'का, यह क्या कह रहे हैं ?' 'हैं-हैं' करता हुआ पटवारी उनके और पास सरक आया, 'कका, यह क्या ?आप तो पितर तुल्य हैं···!'

काका खून का घूंट पीकर रह गए। हांफते हुए बोले, एक गहरी सांस लेते हुए, 'भगवान ने मेरे साथ यही तो जुलम किया है—हं हो धरमसिंग —यही पाप ! काश, मैं राकस होता, राकस हो पाता और तुम्हें यहीं फाड़कर खा जाता···!' काका के होंठ फड़क रहे थे। धधकती हुई आंखें बुरी तरह जल रही थीं।

भीतर उमडता हुआ आक्रोश दबाते हुए बोले, 'तुम यहा से अभी चले जाओ, इसी वक्त ! नही तो कोई विचपात हो पड़ेगा। मैं नही चाहता लोग···।'

उनका यह रौद्र रूप देखकर पटवारी की मिट्टी-पिट्टी गुम हो गई थी। नीचे की सांस नीचे !

'तुम मे कुछ भी इन्सानियत होती तो ऐसा जुलम न करते। तुम्हारे घर में बहू-बेटियां नही···?'

हिकारत से देखते हुए काका चले आए।

—इन्ही भेड़ियो के हाथ मे राज सौंपने के लिए हम जेल गए थे! अपना सब कुछ गवाया था—यही दिन देखने के लिए!

हताश होकर काका बिस्तर पर ऐसे गिरे कि फिर दिनो तक उठ न पाए।

बारह

'ठुल बोज्यू की अस्थिया हरदुआर ले जाए ?' डरते-डरते देबा ने पूछा।

काका मौन-भाव से देखते रहे।

'सुना, ठुल बोज्यू मरने मे पहले लछमन की काकी से कह रही थी…।'

'मुझे सब मालूम है देबु!' काका तड़पकर बोले, 'सब मालूम। रत्ती-रत्ती, पाई-पाई! जब तक अभागन जिन्दा रही, तुम लोग सताते रहे। एक गास रूखी रोटी के लिए भी किसी ने भूलकर नही पूछा। नदिया ने उस बिचारी पर हाथ उचाया। ऐसी अंधेरी कोठरी उसके भाग में दी, जिसमे जानवर भी नही रह सकते। इत्ती बड़ी दुनिया मे अगर किसी का भी आसरा होता तो वह ऐसे मरती…? अब तुम कहते हो, उसकी अस्थियां हरद्वार मे बहाए! ये नदी-नाले क्या कम पवित्तर हैं? इन्ही का जल बहकर तो जाता है हरद्वार!…फिर वहा उसकी हड्डिया ले जाने से क्या मोक्ष मिल जाएगा उसे? जिस दिन गले पर उसे रस्सी बाधनी पड़ी, उसी दिन दिला दिया तुमने मोक्ष…! इन मुर्दा हड्डियों को यही कही नदी मे डाल आओ। मिट्टी मे अब…क्या रखा है…!'

विराग भाव से काका देखते रहे, 'आदमी से बड़ा खतरनाक जानवर और कोई होता है, इस संसार मे…ओह, काश, यह दुनिया कुछ भी जीने लायक हो पाती…!'

आंखें मूदकर काका, पता नही किस समाधि में लीन हो गए!

तेरह

लोहाघाट की अदालत में जिमदारों की हार ने मामला और भी उलझा दिया था। बेनाप ज़मीन का केस पिथौरागढ़ की बड़ी अदालत में चला गया था।

काका को लग रहा था—खीझे हुए जिमदार कहीं कोई हिंसक वारदात न कर बैठें! यह जानते हुए कि पटवारी उनसे मिला है, न्या नहीं करेगा—उन्होंने आगाह करा दिया था।

वृद्ध काका को घेरने के लिए नित नये-नये जाल रचे जाने लगे। देवदार के पेड़ों की चोरी के मामले में पधान के बेटे घना के बदले अब देवा का ही नाम लिया जाने लगा था। घना को चश्मदीद गवाह बना दिया था। ऐसे और भी कई लोग तैयार करवा दिए थे, जो कहते थे कि देवा को रात के अंधियारे में पेड़ काटते उन्होंने स्वयं अपनी आंखों से देखा था।

इतना सब अभी चल ही रहा था कि एक दिन सुबह-सुबह लोगों ने देखा—पटवारी-पेशकार ने देवा का घर घेर लिया है।

मामला क्या है—देवा की समझ में नहीं आया।

बिछौने से घसीटकर उसे बाहर लाए और हाथों पर हथकड़ी डाल दी।

'मेरा क्या कसूर है···?' देवा ने आश्चर्य से पूछा, 'आखिर यह सब क्या···?'

पेशकार ने अपने भारी-भरकम बूट से एक ठोकर मारी, 'हरामजादा, हमसे पूछता है—क्या कसूर है? कमीने, कत्तल करते समय अपने बाप से नहीं पूछा था कि यह सब क्या है···?' दूसरी ठोकर लगाई तो मुंह के बल मेड़ के पत्थर पर जा गिरा। होंठ बुरी तरह कट गए और मुंह से खून की धार गिरने लगी।

पटवारी ने उसकी अधनंगी देह पर तड़ातड़ डण्डे जमाने शुरू किए तो वह थर-थर कांपने लगा।

दोनों हाथ बंधे थे। मुंह भी पोंछ पाने की स्थिति में नहीं था। हथकड़ी की रस्सी रंगकर लाल हो गई थी।

गांव में मिरदम्म मच गया।

भयत्रस्त, आतंकित स्त्री-पुरुष, बूढ़े-बच्चे, सब हाथ का काम छोड़ दौड़े-दौड़े आंगन में आ जुटे।

'सरकार, क्या भूल हो पड़ी हमारे देवा से—?' वृद्ध पधान ने हिम्मत बांधकर पूछ ही लिया।

'कमीना, धर्मात्मा बनता है! बनबसा में जोती परसाद की हत्या में भी इसका हाथ बतलाया जाता है। फारम में पूरी मजदूरी न मिलने के कारण मजदूर नाराज थे। अपने फारम के मकान में जिस रात उसकी हत्या हुई, उस रात यह भी वहीं था। हत्या जो हुई, सो हुई, अठारह-बीस हजार की नकदी भी नदारत है···!'

'यह तो इन दिनों माल-भाभर की तरफ गया ही नहीं!' पधान हाथ जोड़ते हुए बोला।

'अबे, जाड़ों में तो गया था स्साला! तीन-सवा तीन महीने वहां रहा।' पटवारी ने नड़कते हुए उत्तर दिया।

लोहाघाट की हवालात की तरफ जब देवा को बंधी गाय की तरह हांककर ले जाने लगे तो मझली बहू, बच्चे सब डाड़ मारकर रो पड़े।

काका भागते-भागते जब तक लोहाघाट पहुंचे, तब तक देवा को पूछताछ के लिए नैनीताल ले जा चुके थे।

चौदह

लुटे-लुटे-से काका गांव पहुंचे तो देवा के नन्हें-नन्हें बच्चे उनसे लिपट पड़े।

कोरे आकाश से एक दिन ऐसा बजरपात भी होगा—उन्होंने कल्पना तक नही की थी। रात को नन्दू को बुलाकर बोले, 'अब तू ही इस घर में सबसे सयाना है नदिया···! तू ही बड़ा, तू ही सबमे छोटा। तेरे होते हुए हमारे देवा के बच्चे बेसहारा नहीं हो सकते। खाना पहले उसके बच्चो को देना, फिर अपने। देवा के साथ ही नही, यह जुलम हम सब पर है। बिना अपराध के देवा को फांसी लग गई तो हम सब कही के भी नही रहेंगे। घर मे घुसकर, ये राकस एक-एक कर सबको मार डालेंगे···' काका का गला भारी हो आया।

मझली बहू टुल-टुल रोने लगी तो काका को जैसे होश आया, 'बहू, तू क्यों रोती है पगली ? तेरे लिए तो अभी हम सब है।···देखना हमारा देवा एक दिन जरूर छूटकर आएगा···देख लेना···!'

घर मे जो कुछ भी गहना-पत्ता, पैसा-पाई बचा था, मंझली ले आई। बच्चों के हाथों मे चादी की धागलियां थी, पतली डोर-जैसी, उन्हें भी उतार लाई। गांगि 'का के सामने रखती हुई बोली, 'इसके अलावा घर में और कुछ भी नही···! जैसे भी हो उन्हें छुड़ा लाना···।' मझली बहू की आखो से टप-टप खून की बूदें गिरने लगी।

काका टूट सकते थे, झुक नही। कमर बाधकर सुबह फिर निकल पडे।

पन्द्रह

धनकोट पहुंचे ही थे कि सबने घेर लिया।

'देवा के साथ अन्या हुआ कका, घोर अन्या ''यह कैसा राकस राज है !'

काका कुछ क्षण चुप रहे।

'आप तो कहते थे कका, गरीबों के लिए अब अच्छे दिन आएंगे ! सबके साथ न्या होगा ! पर यह क्या न्याय है, जहां कोई रो भी नही सकता···!'

'देवा के साथ अकेले ही तो ऐसा अन्या नही हुआ !' कुछ सोचते हुए काका बोले, 'ऐसे हज़ारों देवा है, जो दूसरों के पापो की सज़ा भुगतने के लिए फांसी पर झुला दिए जाते हैं···!'

'आप अब कही एकात में बैठकर राम नाम जपिए कका ! ऐसे जुलम तो हम पर पहले भी होते थे, अब भी हो रहे है—आगे भी पता नही कब तक होते रहेंगे ! इन्ही सब कारणों से पटवारी-पुलस आपको इस तरह झमेलों में डाल रही है—हम निरे पशु नही, सब जान्ते हैं···!' जगराम ने सुझाया तो काका हस पडे, 'मैं तो निमित्त मात्र हू भव्वा ! यह आज नही तो कल होगा। अन्या के खिलाफ एक दिन तो किसी को आवाज़ उठानी ही होगी। तुम्हारे हरिया के बदले हमारा देबा चला गया, क्या फर्क पडता है ! किसी की बलि तो चढेगी ही···!'

कुछ रुककर काका आगे बोले, 'यह जात और धरम की नही, धरम और अधरम की लडाई है। पाप और पुन्न की है। फिरंगियों के खिलाफ भी तो हम ऐसे ही लड़े थे···।'

'पर कका, दूसरों की आग में आप अपने हाथ क्यों जलाते है ?' दूर बैठे बुधराम ने शंका प्रकट की।

'अपना-पराया तो सब मन का भेद है बेटा ! परमानन्द पण्डित की कोई आन-औलाद तो थी नहीं—फिर किसके लिए वह जिन्दगी-भर जेलों में सड़ते रहे ! डण्डे खाते रहे ! ···समझोगे कभी समझोगे···!'

काका चुप हो गए।

सोलह

पिथौरागढ की अदालत का फैसला भी जब लोहारों के हक में चला गया तो जिमदारों के पांवों की जमीन खिसक गई।

उन्होंने मामला नैनीताल की बडी अदालत में ले जाने का फैसला किया, पर लोहारों के सामने फिर समस्या खड़ी हो गई—कोट-कचैरी

का खरचा कहा से आएगा ?

गांगि 'का ने सबको बुलाकर 'पंच-फैसले' की योजना बनाई। जिमदारों को और चाहिए भी क्या था ? उन्होंने बात झट से मान ली।

दोनों तरफ से दो-दो पच रखे गए—हर्रासह नायब मास्टर और पानसिह दुकानदार जिमदारों की ओर से। ज्वालादत्त और उर्बासंकर धनकोट के लोहारों की ओर से। मानी पण्डत को मर्वसम्मति से सर-पंच बना दिया।

तीन दिन पंचायत बैठी, पर किसी निर्णय पर नही पहुंच पाई। जिमदार-ठाकुर किसी भी कीमत पर अपने आसपास की बेनाप ज़मीन लोहारों को देने के लिए तैयार न थे।

अन्त मे काका से रहा नही गया, 'आखिर ये बिचारे भी तो इंसान हैं यार ! धनकोटवालों की ठौर पर यदि आप होते तो क्या करते ? गौचर का रास्ता तो सरकार-दरबार ही नही, परमेसर के यहां से भी मिलता है···ये बिचारे बिना ज़मीन-जायदाद के हैं—आप सबके जूठे-पीठे पर पलने वाले ! सरकारी, बेनाप ज़मीन मे से कुछ ये भी क्पोर लें तो क्या हरज ! आप लोगों के पास तो डाडा पड़ा है—पूरा पहाड़ !'

'लोहारों की आवादी हम अपने वगल मे नही चाहते !' फनककर मोतीसिंग बुंगियाल बोला।

'तो इन्हें सामने का डांडा आबाद करने दो। आपसे बहुत दूर रहेंगे। इनकी परछाई भी आप पर नही पड़ेगी···।'

'आप बुढा गए हैं। बुद्धि भरस्ट हो गई है कका !' नार्यसिंह जोश में आकर कहने लगा, 'तभी तो उल्टी-उल्टी बातें करते हैं ! हमारे खिलाफ इन्हे भड़काते रहते हैं। अगर ज्यादा करेंगे तो देख लेंगे। लाश का भी पता नहो चलेगा···!'

गागि 'का हमेशा की अम्लान हंसी में हंस पड़े, 'ज्यादा खाने वाला अन्त मे कुछ भी नहीं खा पाता बेटा ! भगवान से कुछ तो डरो···!'

अन्त मे फैसला जिमदारों के ही पक्ष मे हो गया।

मानी पण्डत पैसा खाकर बहक गए। लोहारों के खिलाफ उन्होने फैसला ही नही दिया, बल्कि अब तक का हर्जा-खर्चा भी उनके माथे ठोक

दिया।

लोहारों की आबाद की गई सारी ज़मीन जिमदारों ने हथिया ली। गौचर का रास्ता भी जब हमेशा-हमेशा के लिए बन्द करवा दिया तो काका सीधे अदालत में पहुंचे लोहाघाट की। डिप्टी कलेक्टर के पास जा कर हाथ जोडते हुए बोले, 'हजूर, गरीबपरवर, अब आगे अदालत में जाने के लिए लोहार बेचारों के पास कानी कौड़ी तक नहीं। जिनके पास दिन-भर मिहनत-मजूरी करने के बाद, एक छाक खाने के लिए रोटी नहीं, लाज ढकने के लिए फटे-पुराने कपड़े नहीं, वे क्या के लिए किसके द्वार पर जाएं ?···जिमदार अपनी पीठ निमोरने लगे है, अब वे पेट पर लात मारने पर आमादा है। यदि गरीबों की ज़मीन उन्हें नहीं लौटाई गई तो मैं यहीं—इसी अदालत के सामने अपने शरीर पर मिट्टी का तेल छिड़ककर आत्मदाह कर लूंगा।'

काका की यह चेतावनी डिप्टी कलेक्टर को ऊपर से नीचे तक हिला गई। कहते हैं—पुल-हिडोला में हुई मार-पीट के मामले में ऊपर के अफसरों से उसे बड़ी झाड़ खानी पड़ी थी, इसलिए इस बार तत्परता दिखलाते हुए चम्पावत के तहसीलदार को शीघ्र मौके पर जाने का आदेश दे दिया।

तहसीलदार ने एक-एक जगह जाकर, सारी स्थिति का खुद जायजा लिया और किसी तरह समझा-बुझाकर जिमदारों से कब्जा छुड़वा दिया।

दबाव में आकर कब्जा तो उन्होंने छोड़ दिया, पर अब वे लोहारों के ही नहीं, गांगि 'का के भी खून के प्यासे हो उठे।

जिन-जिन लोहारों के पास जितना कर्जा था, जिमदारों ने उन सब पर एक साथ दावा दायर कर दिया।

अन्त में अदालत से कुर्की करवाकर कटोरी, करछी तक सब एक-एक करके नीलाम करवाने लगे।

सत्रह

जो कुछ जमा-पूंजी थी, उसे लगाकर भी गांगि 'का देवा को न छुड़ा पाए। अनेक बार नैनीताल गए, पर अन्त में सब व्यर्थ रहा।

जिन लोगों का हत्याकांड में हाथ था, वे निर्द्वन्द्व होकर घूम रहे थे, और कुछों को बलि का बकरा बनाकर, वध के लिए इस तरह तैयार किया जा रहा था। लोगों का कहना था —हत्या तल्ला चाराल के देवा ने की थी, पर पुलिस ने इस देवा को लाग के कारण फंसा दिया है।

देवा के खिलाफ हत्या का ही नहीं, चोरी-डकैती का संगीन मामला भी बना दिया गया था।

अदालत में देवा ने सिर्फ इतना ही कहा—

—मैंने हत्या नहीं की। चोरी भी नहीं। मुकदमा लड़ने के लिए मेरे पास पैसा नहीं है।

लगभग दो साल तक केस चला।

अन्त में हत्या के मामले में तो वह बरी हो गया, किन्तु चोरी-डकैती के अपराध में सवा तीन साल की कठोर सज़ा हो गई।

आगे अपील कैसे करता? न साधन थे और न किसी की सहायता ही। अतः चुपचाप जेल की सज़ा काटने के अतिरिक्त और रास्ता भी क्या था!

अठारह

—गांगि 'का की कुछ अज्ञात लोगों ने कल रात हत्या कर दी।

आग की तरह यह समाचार सारे इलाके में फैल गया।

खेतों में हल जोतने वाले किसान हल छोडकर चले आए। बंकर गाड़कर खाने वाले मज़दूर, मज़दूरी छोड़ आए, घास-लकड़ी के लिए जंगल जा रहीं औरतें, आधे रास्ते से लौट आईं। पाठशाला खुली ही नही। चौधार की दुकानों के द्वार मूद लिए गए।

कल रात काका बल्का से लौट रहे थे, रास्ते मे लोगों ने घात लगाकर पकड़ा और वहीं खोले मे चेप कर हत्या कर डाली।

सुबह खून से क्षत-विक्षत शव मिला—चौबटिया के किनारे—काफल के पेड़ के नीचे!

इससे पहले भी काका की हत्या के अनेक प्रयास किए जा चुके थे। गत वर्ष पूस में टटवाड़ी के भिसाले खोले मे उन पर घातक हमला हुआ था। काका बचकर तो निकल भागे, किन्तु कन्धे पर कुल्हाडी का गहरा घाव महीनों तक दुख देता रहा।

काका की मृत्यु से धनकोट ही नहीं, पूरे अस्सी-फडका में गहरा मातम छा गया। दिन मे ही नहीं, रात को भी घरों में चूल्हे नही जले।

अर्थी निकली तो सैंकड़ो लोग आंखों मे आंसू लिए पीछे-पीछे निकल पड़े।

निर्जन मशान मे लकड़ियों का अम्बार लग गया।

—कका जीवन-भर दूसरों के लिए खटते रहे!

—आदमी नहीं थे, देवता थे कका!

—अपने लिए कका जिए ही कहां!

—कका की हत्या का बदला जरूर लेंगे!

—कका जैसे भलेमानस इस दुनिया के काबिल कहां!

—कका के जाने के बाद हम सब अनाथ हो गए। हमारे लिए अब कौन लड़ेगा?

चिता पर आग दी जाने लगी तो सारा जन-समुदाय विह्वल होकर रो पड़ा।

उन्नीस

बिना अपराध की सज़ा काटकर देवा जब लौटा तो वह कोई दूसरा ही आदमी था। बढ़ी हुई दाढ़ी, कठोर चेहरा, धधकती हुई आंखें।

इन सवा तीन सालों की घोर यन्त्रणाओं ने उसे बहुत कुछ सिखला दिया था। *अन्याय का प्रतिकार न करना, अन्याय को बढ़ावा देना है*—जेल में चक्की चलाते-चलाते, रामबांस कूटते-कूटते इस रहस्य को भी वह आत्मसात कर चुका था।

वह सीधा धनकोट पहुंचा।

उसे देखते ही लोग जिज्ञासा से निकट आए।

—कका इस मड़य्या में सोते थे देवा !

—कका के पहनने के कपड़े हमने अब तक सम्भालकर रखे हैं !

—इस छोटी-सी पीतल की थाली में कका खाना खाते थे !

—मरने से दो-तीन दिन पहले धार वाले चन्दन 'का से कह रहे थे—अब यह चोला अधिक चलने वाला नहीं है चना ! शायद उन्हें मरने का आभास हो गया था। गांव जाकर एक बार फिर बच्चों से भी मिल आए थे।

—राम-राज का सपना अधूरा ही रह गया—कका अक्सर कहते रहते थे—अजुध्या में रावणों का राज हो गया है…।

—पिछले साल से कका का अन्न टूट गया था। दो-दो दिन तक ग्रास नहीं तोड़ते थे।

—कका की हत्या किसने की, सब जानते हैं देवा, किन्तु डर के मारे कोई कुछ बोल नहीं पाता !

'किसका डर ?' देवा अट्टहास कर हंस पड़ा, 'इतने जुलम सहने के बाद भी डरते हो ? इससे अधिक और क्या हो सकता है तुमारे खिलाफ?'

देवा क्या कह रहा है ? विस्मय से सब देखते रहे।

'कका की हत्या किसने की? मुझे बताओ। मैं कहता हूं, चौबटिया पर खड़ा होकर। दाग्र लगाकर। गला फाड़कर!' देवा ने दहाड़कर कहा तो सब सन्न रह गए।

कुछ देर उनकी भयत्रस्त, अचरज में डूबी, बुझी-बुझी आकृतियों की ओर वह कुछ टटोलता-खोजता हुआ देखता रहा। फिर तनिक संयत स्वर में बोला, 'कका जोगी थे—परमहंस। इस धरती के परानी नहीं। पर हमारी धमनियों का रक्त खोले का पानी नहीं। जो हमें जीने नहीं देंगे, हम उनका जीना भी कठिन कर देंगे।···कका की हत्या क्यों हुई? क्या दोष था उनका? बिना अपराध के मैं जेल मे नारकीय जातना क्यों सहता रहा? आप लोगों पर आए दिन ऐसे-ऐसे जुलम क्यों होते हैं? कमलु 'का के बच्चे घुट-घुटकर, तड़प-तड़पकर क्यों मरे? इन पर विचार करना होगा···। तुम्हें जो भी सहायता चाहिए मैं दूगा···। तुम मुझे सहारा दो, मैं तुम्हें मुक्ति दूगा···! अपने परानों की आहुति भी देनी होगी तो खुशी-खुशी से दूंगा···।' देवा का रौद्र रूप देखकर सब में दहशत छा गई।

घर लौटने पर देवा ने न बच्चों से कोई बात की, न पत्नी से ही कुछ बोला, नन्दू को घर का भार सौंपकर, रात के अंधियारे में, सिर पर कफन बांधकर चुपचाप निकल पड़ा—किसी सुबह की तलाश में! *

अंधेरा और

कंटीले तारों की तरह उलझी बेंत की घनी झाडियो को चीरता हुआ, जब वह आगे बढ़ा, तो बुरी तरह हांफ रहा था। शरीर जगह-जगह से लहू-लुहान था। बायें पांव के तलुवे की मोटी खाल, सूखे बास का खूट गड़ जाने से मूली के छिक्कल की तरह एक ओर लटक गई थी, जिससे निरन्तर रक्त बह रहा था। कन्धे पर पडी सिमरिया तार-तार फटी, कमर पर कौपीन की तरह बंधी चीकट धोती पर जगह-जगह लहू के निशान थे—काले-काले धब्बे !

सूरज उगा नही था। पौ फटने में अभी देर बहुत थी। इसलिए आसमान को छूते, लम्बे-चौड़े दैत्याकार हल्दू, शाल, शीशम के घने वृक्ष बडे भयावने लग रहे थे। डाल पर बैठे पक्षियों के पख फडफडाने से कभी-कभी डरावना-सा स्वर निकलता। आकाश पर अटकी प्रेत-छायाओं का-मा भान होता।

जमीन-आसमान, जहां तक दृष्टि जाती अंधेरा-ही-अंधेरा !

उसके नथुने फड़क रहे थे। धधकती रक्तिम आखो में गजब का आतक था। भागते हिरन की तरह चौकन्ना होकर वह बार-बार सशंकित भाव से इधर-उधर देखता। पेड़ों से उलझी घनी लताओं के झुरमुट में तनिक-सी भी छन-मन की आहट हुई नही कि वह चौकडी भरकर भागने लगता।

अभी-अभी दूर कही गोली चलने की-सी आवाज शून्य में गूंजती उसे साफ सुनाई दी थी। तब के उसका हृदय धौंकनी की तरह धड़क रहा था। शंका से इधर-उधर देखता हुआ सोच रहा था—

कही उसके मन का वहम तो नही यह ! इस विकट वन में, इस अंधेरी रात मे गोली की आवाज भला कहा से सुनाई देगी ? पता नही उसे अब

क्या हो गया है ? एक विचित्र-सी दहशत उसके मन में घर कर गई है। जो कुछ भी वह सोचता है, उसे लगता है, वह सब आंखों के आगे घटित हो रहा है। कभी उसे घास-फूस के घर दिखलाई देते—धू-धू कर जलते हुए। कभी सुतरिया नदी में तैरती-उतरती लाशें ! कभी सेमल के बूढ़े वृक्ष तले पड़ी कोई निष्प्राण आकृति। गोबर-मिट्टी से लिपी देहरी पर कील वाले भारी-भरकम काले बूंटों के गहरे निशान। कच्चे किवाड़ों पर खून से रंगे हाथों के छोटे-बड़े अनेक लाल धब्बे ! पूरा-का-पूरा भदरपुर गांव मुर्दों से पटा दीखता।

कभी-कभी एक और आकृति उभर उठती। सफेद कपड़ों में लिपटा कोई दैत्य, बैलगाड़ी हांकता हुआ, उसी के शरीर पर गाड़ी के पहिए चढ़ाने लगता तो कुचलने के भय से, दोनों कानों को हथेलियों से दबाकर, बुरी तरह चीख उठता !

"का हुआ रे परसिया ?" चौंककर कंचनियां कहती तो वह काठ की तरह उसके भयत्रस्त चेहरे की ओर देखता रहता।

"मैंने गलत देखा कंचनिया ! वह बइल-गाड़ि नाहिं, सर्दार सोहनसिंग का टरक था, टरक, जो मोरे सीना से पार निकर गया···!"

कंचनियां समझ न पाती, "का कहत हो ! सोहनसिंग अब हिंया कहा ? टरक-ठेला गाडी कहा ? कोई सुपना देखा हैगा जागते मा !"

"हेइइ राम ! सपनाहि होता जौन देखा ! जेहि रोजहि देखत हूं···।" इतना कहकर परसिया जाने लगता तो कंचनियां उसका हाथ पकड़ लेती। इस पर वह तमकता हुआ मुड़कर देखता—

"पुलस पीछे परी है—बन्दूक तानि के। जब तक ई मुसीबत नाहिं निकर जात, का हो सकत है ! फारम वारे बिरजबासी ने म्हारे आधे खेत हजम करि डारे, अब पूरे निगलने के वास्ते मुह खोलि के बइठा है ! खेत-घर छाड़ि दें तो तू हि बता, कहां रहें ?···जौन बात सच नाहिं, उहाको सुपनां देखना भी पाप है, घोर पाप !"

परसिया कह ही रहा होता कि कंचनियां स्वयं को रोक न पाती, "नीका सुपना भी तो तू देखत है—जागत-सोवत ! उसे देखना भी का पाप है ? अगर पाप है तो फिर पुन्न का है रे ?" कंचनियां का स्वर उदास

हो आता। उसकी ठोढ़ी पर अंकित गोदने के तीन नीले-नीले बिन्दु और गहरा जाते।

"पाप का है? पुन्न का? हम नाहिं जानत···!"

"हम जानत है। हियां से कहिं दूर चले जात हैं। कालि नदिया पार नेइपाल मां बसि जात हैं। हुआ किसी की चाकरी करि के, धान कूटि के, जंगल मां बांस-लकडी काटि के दो परानियों का पेट तो अघा ही जाएगा ना!"

"तू तो निरी-निरी पगली है। नाहिं जानत!" हवा मे हाथ हिलाता हुआ परसिया कहता, "दो का हि झझटा नाहिं। जौन चार परानियां और हैं, उन्हें का धतूरा कूटि के पिलाइ दू? सुतरिया मे मुंह बाधि के फेंकि दूं?"

"उनका भी होइ जाइ! तू काहे को चिनता करत है!"

"चिनता उनकि नाहिं, पुलस की है। फारम वारे बिरजवासी की है···! तू नाहिं जानत। जे राकस है राकस—चारो ओर घेरि के खड़े है मुह फाड़ि के।"

"मरद होइ के का बात करत हो?" कंचनियां की बुझी आंखो मे सहसा आग की लपटें उभर आतीं। दाएं हाथ से हवा मे उड़ती बित्ते भर की ओढ़नी समेटती हुई कहती, "मनुस बार-बार तो नाहिं मरत, नाहिं···!"

"जे तू कहत है कंचनिया?" परसिया का बुझा-बुझा चेहरा दमक आता। मन का सारा संताप जैसे लहर छूकर बह गया हो। अबोध शिशु की तरह कंचनिया की हिरनी-जैसी बड़ी-बड़ी कजरारी आंखो मे आंखें डाले, जाने क्या खोजने लगता! गोदने का नीला रंग कितना निखर आया है! कानों मे दूब के तिनके-जैसी पतली-पतली चांदी की बालियों का गुच्छा हवा मे होले-होले तैरता हुआ कितना भला लग रहा है! माथे पर बिखरी स्याह लटें एक साथ कई चितर बना रही हैं। परसिया के फौलादी हाथों की जकड़ न जाने कब, कैसे इतनी गहरी हो जाती कि कचनियां की सुकोमल कलाइयों पर गहरे निशान-से छूट जाते।

ज्यों-ज्यों दवाव बढ़ता, कंचनियां भी त्यों-त्यों बदलती जाती। धीरे-

धीरे उसका साहस पिघलकर पानी बन जाता। एकाएक भावुक होकर कहती, "तू जंगल मां रहत है। दिन-रात भागत-फिरत है। पुलस तोहार पीछे है। हमहिं जहर दे दे परसि! जी के का करि है?" कंचनिया का गला भर आता। परसिया के सीने पर दुबककर वह चुपचाप सिसकने लगती।

परसिया का मन डूबने-सा लगता तब। ऐसा कब तक चलेगा, उसकी समझ में न आ पाता। आखिर इस सबका अन्त क्या होगा? कैसा होगा? कब होगा? एक बहुत बड़ा प्रश्न-चिह्न उसकी आंखों के सामने उभर आता।

सूखा, ठण्डा भात पड़ा रहता। कंचनियां दबे पांव भीतर जाकर, चुपके से परात में ले आती। साथ में मछरिया का थोड़ा-सा बासी झोल भी।

आखें बन्द किए, गूंगे पशु की तरह वह चुपचाप भकर-भकर खाता रहता।

कुछ देर बाद नीचे जमीन पर बिखरे सूखे पयार से यों ही हाथ पोछता हुआ वह उठता और चुपचाप अन्धकार में कहीं खो जाता। कंचनियां कुछ पूछने के लिए कभी-कभी आगे बढ़ती, परन्तु प्रश्न गले में ही भंवर खाकर रह जाता।

दो

लगातार पानी बरस रहा था—कई दिनों से। गरज-बरज के साथ झमाझम बारिश हो रही थी। [illegible] पटमैल[illegible] के
बंधन तोड़कर दूर-दूर तक खेतों में [illegible]
में छोटे-छोटे तालाब जो गर्मियों में सू[illegible]
सब भर आए थे। कई [illegible]
की तरह मटियाली मिट्टी मिला [illegible]

में बर्तन-भांड़े तैर रहे थे। परसिया की कोठरिया में गांव-गराम के लोग जुटे थे। रोने-सिसकने का दबा हुआ स्वर गूंज रहा था।

पिरथी शाम को गाय-ढंगरों को लाने जंगल गई थी, और लौटी न थी—आज सात दिन हो गए थे!

भीखू थारू ने खटीमा जाकर थाने में रपट दरज कराई थी। पर अब तक कोई पता-पानी मिल न पाया था।

समरू ने जंगल छान मारा था। बिहारी सुतरिया नदी के किनारे-किनारे दूर तक देख आया था। सफेदे के नये जंगल तक! कहीं डूब न मरी हो! परन्तु प्रश्न यह था कि वह डूबने क्यों लगी? चनकइया के परधान के घर भात हो गया था। अगले चैत में तो शादी ही तय थी!

भीखू के लिए दिन में ही तारे छिटक आए। इकलौता बेटा परसिया गांव गया था, कहीं दूर, अब तक लौटा न था। लड़की की कहीं कोई खोज-खबर न थी!

इस साल पता नहीं क्या सोचकर चकरपुर मण्डी से पिरथी के ब्याह के लिए कपड़ा खरीद लाया था। फसल पर हाथ खुले थे, शायद सोचा था कि उधारी से तो यही अच्छा है, बक्त पर काम आएगा।

घर में किसी से रार-रंज नहीं। किसी से झगड़ा-फसाद नहीं। किसी किसम की कोई दुख-तक्लीफ नहीं! फिर वह आत्मघात क्यों करने लगी?

तराई में शेर-बाघ तथा वन-हाथियों का ऊधम आए दिन रहता है। किन्तु बाघ-भालू भी उठा ले जाता या पागल हाथी पांवों तले कुचल डालता तो क्या रक्त, मांस, हड्डियों का या पहनने के चीथड़े का— कोई निशान तो कहीं दीखता!

थानेदार हरपरसाद तहकीकात पर गांव आया था। पिरथी के लापता होने के लिए सारे गांव को जिम्मेदार ठहरा रहा था। उसका कहना था कि भीखू थारू ने अपनी जवान बेटी किसी परदेसी के हाथ बेच दी होगी—गांववालों की मिली-भगत से। नहीं तो लड़की एकाएक कहां गायब हो गई! डूबी नहीं, कोई भगाकर ले नहीं गया, किसी जिनावर ने चीरा नहीं, फिर?

कुछ साल पहले भी पास के ही शिवपुरा गांव में ऐसे ही एक लड़की

लापता हो गई थी। बाद में पूरे दो महीने बाद पता चला कि उसके मा-बाप ने सितारगंज के किसी फारमवाले के हाथ, थोड़े से टके के लालच मे बेच दिया था।

भीखू ने दहाड़ मारकर परमेसर की सौगन्ध खाई थी कि वह ऐसा घोर पाप कैसे कर सकता है! अपनी बेटी को—अपनी ही सगी बेटी को गाय-बछिया की तरह कैसे बेच सकता है! उसे अपना परलोक बिगाड़ना है? राम, राम! ऐसा पाप! छि:!

जब थानेदार किसी भी तरह टलने को राज़ी न हुआ तो अपनी फटी मिरजई मे से मुड़े-तुड़े, मैले-कुचैले कुछ नोट निकालकर, गिडगिड़ाते हुए वह थानेदार के बूटों पर माथा टिकाकर रो पडा था, "देवता, ऐइसा नां कहो! कलपानत होई जावेगा। सरकार-दरबार ही ऐइसा कहेगी तो दुनिया का नही कहेगी?"

"स्साले, कमीने! छोकरी बेंचकर खा गया और हमसे कहता है, दुनिया क्या कहेगी?" उसकी झुकी कमर पर ठोकर मारकर थानेदार चला गया।

थानेदार को थी भी कुछ जल्दी। शाम हो रही थी। खटीमा पहुंचते-पहुंचते अंधेरा हो जाएगा। लड़की खो गई तो क्या हुआ? दो-चार दिन में मौज-मस्ती करके घर लौट जाएगी। नही भी आएगी तो क्या गजब हो जाएगा? लडकिया तो आए दिन भागती रहती हैं!

भीखू बरसात मे भीगता हुआ, लाठी टेकता फिर बाहर निकल आया। कही-न-कहीं तो कोई खोज-खबर मिलेगी ही!

रात घिर आई तो वह मड़ैय्या मे लौटा। किवाड के सहारे बांस की लाठी टिका ही रहा था कि बिन्दा टूटी लालटिनिया लिए भागता-भागता आया। बोला, "पिरथी की लाश बूढे सेमल के पीछे पडी है काका वजर धरती मां, चील-गिद्ध लगे हैं। तमाम बास आ रही है—दुरगन्ध!"

लालटीन के महारे, अंधियारे मे रास्ता टटोल-टटोलकर भीखू के साथ-साथ सारा भदरपुर उमड पडा था।

—हियां तो हमने पहिले भी देखा था—कल, परसों!

—हो सकता है, घास में लाश छिपी हो, निगाह न पड़ी हो!

—लगता है, आज ही किसी ने फेंकी है।

—एक मोटर-ठेला चकरपुर की तरफ जा रहा था, यहां पर भी कुछ देर रुका। जे रहे पहिए के निशान !

इतनी बारिश के बावजूद भीगी मटियाली ठोस धरती पर, पहिए के निशान साफ दीख रहे थे।

—पागल हो तुम ! कोई मारि के लाश हियां छोडि जाएगा—गाम के पास ! सुतरिया में बाढ़ आई है। उसी मे नाहिं बहा सकता था !

जित्ते मुंह, उत्ती बातें !

"पंचाइतनामा करके लाश को रात मे ही जला दिया था। गाववालो को डर था कि कही फिर पुलिस आई तो फिर कुहराम मचेगा।

तीन

जब से सोहनसिंह का ट्रक बनवसा आता-जाता, रात-बिरात, भदरपुर रुकने लगा था, भीखू के मन में नाना प्रकार की शंकाएं उगने लगी थी। धरमू पधान का छोरा झन्नू चाल-चलन का ठीक नही—पंचायत ने भी सरेआम ऐलान कर दिया था। शंखी जब लापता हुई, तब सबसे पहला सन्देह झन्नू पर ही हुआ था।

पूरे दस दिन के बाद जब एक रात शंखी, तन पर नाममात्र के कपडे लटकाए लौटी तो उसे पहचान पाना कठिन था। फिर उसने जो राम-कहानी कही, उसे सुनकर तो सबके रोंगटे खड़े हो गए थे।

उसने रोते-कलपते बताया था कि किस तरह से शहर में 'मेला' दिखाने का लालच देकर झन्नू ने उसे जबरदस्ती 'टरक' पर बिठलाया। जाड़ा खूब था। हवा देह को लगती थी। इसलिए अपना आधा कम्बल उसके ठिठुरते शरीर पर लपेटे रहा—नन्ही चिड़िया की तरह अपने सीने से दुबकाए कि कही सर्दी न लग जाए ! बहेड़ी पहुंचने पर 'मेला' तो क्या दिखलाना था, हां, उसे ही एक मेला अवश्य बना दिया था। किसी खपरैल

वाले पुराने मकान के अंधेरे कमरे में बन्द करके, ज़बरदस्ती देसी दारू गले में उड़ेली और सारे कपड़े उतारकर, उन्हें किसी दूसरे कमरे मे छिपा दिया था, ताकि बिना कपडों के वही बाहर न भाग सके ! उसे होश नही, क्या-क्या ज़ुलम उसके साथ होता रहा। सातवें दिन, रात के घुप्प अंधियारे मे जब खूब पानी बरस रहा था, बिजली कडक रही थी —मौका मिलते ही फटे टाट का चीथडा देह पर लपेटे बाहर निकल आई थी।

बाहर कडाके की सर्दी थी। वह भागती हुई डामर की पक्की सडक तक आ गई थी। सडक के दूसरे किनारे पर कोई टरक-ठेले वाला ठेला रोके खडा था। बनवसा की तरफ कही जा रहा था। उसे पता नहीं, क्या सोचकर दया आ गई ! उसने चुपचाप ठेले पर बिठला लिया—सामान के बीच में थोडी-सी जगह बनाकर। दो-तीन दिन तक अपने पास रखे रहा। फिर जाती बेर, तन ढकने के लिए अपनी फटी लुंगी और पुराना कुरता दे दिया और रात को यहा तक छोड गया—सुतरिया के पुल के पास, नीम के पेड के नीचे···

भीखू ने देखा था। जगह-जगह उसके शरीर पर नीले निशान थे। घाव थे। दिनों तक वह बिस्तर पर पडी रही। बाद में पता नही, क्या हुआ उसे, वह पगला-सी गई थी। अपने शरीर के कपड़े वह स्वयं फाडने लगी थी। अपने बालों को बुरी तरह नोचने लगी थी। कभी-कभी जब पागलपन के लम्बे दौरे पड़ते तो वह अपने कपड़े उतार-कर, पोटली की तरह उन्हे सिर पर रखकर, बीच गांव मे से छाछट नंगी निकल जाती थी। सुतरिया पर नहाने जाती तो सारे कपड़े किनारे पर ही छोड देती। निमय्या गांव का गराम-सेवक लल्लन एक बार उसे ऐसा बहकाकर ले गया कि फिर कभी वह गांव लौटी न थी। बनवसा के बाजार मे लोगो ने उसे देखा था—ठेला डराइवरों की भीड मे···टेशन पर छुक-छुक गाडी मे लकडी का लदान करने वाले मजूरों के साथ···अन्त में किसी ने बतलाया कि वह चक्करपुर से महेन्दर नगर-नेपाल की तरफ भाग गई है, किसी मुसलमान फेरीवाले के साथ।

यह नियति कोई नई नहीं थी। पहले भी ऐसा ही होता था गांव मे,

जब भीखू छोटा था —तब भी इसी तरह लोग सताते थे। पंचमी काका की दूसरे ब्याह की नई-नवेली बहू सिनदूरी के साथ, पुलिस का मुछन्दर सिपाही हर हफ्ता खटीमा मण्डी से आकर दिन-दोपहर उनकी झुपडिया में घुसकर बदफेली करता था। जिस दिन वह आता, काका उस सारे दिन कटे-कटे-से बाहर रहते—तलाब में मछरिया पकडने के बहाने। शाम तक जाल में जितनी भी मछरिया आतीं, वे भी सब मुछन्दर के पेट में समा जाती।

जब रात हो आती तो पंचमी काका के कंधे पर कुटे हुए साफ चावल, साबुत उरद की दाल के थैले के साथ-साथ कुमडा या कद्दू भी लदवाकर अपने साथ डेरे तक ले जाता। बदले मे सतजुगी काका को क्या मिलता? कभी लात, कभी कोई गन्दी-सी गारी। पूरे सात साल तक वह इस थाने में रहा, और उसका यही सिलसिला चलता रहा। लोग कहते है कि पंचमी काका के तीनों छोरे उसी मुछन्दर पर गए थे।

और ये जो तिजारथ वाले पधान-साहूकार जाडों मे पहाड़ से उतरकर थड़वाट मे आते है, ये भी क्या कुछ नही करते!

पण्डत सीसराम पधान से पाच बीसी रुपये करजा लिए थे उसने। हर साल एक बीसी ब्याज के चुकाता रहा। साथ मे चावल, धान, दाल का 'सीधा' अलग से। सारी जिन्नगी-भर इतना चुकाने के बाद, आज भी साबुत पांच बीसी रुपये ज्यो के त्यों उसके सिर पर हैं करज के।

सीसराम बामन माथे पर लाल चन्दन का टीका लगाकर, घोड़े पर सवार होकर आता—अकड़ता हुआ। जब भी वसूली पर गांव आता साहूकार बनकर, उसी की झुपडिया मे दिनों तक डेरा डाले पड़ा रहता।

उसकी जवान विधवा भावज को, रात के अंधियारे में अपने बिछौने पर घसीटते उसने कई बार देखा था। हरामी कही का! खटीमा में कुत्ते की मौत मरा था। बडी माता निकल आई थी। लाश को कोई उठाने वाला तक न मिला तो कहते है, जमादारों ने घसीटकर गंगा मे बहा दिया था सुसरे को।

चार

परसिया जब गांव लौटा, तब मातम छाया हुआ था। पिरथी का दाह-संस्कार हुए अभी हफ्ता भी बीता न था, किन्तु सारे घर में विषाद-छाया-सी मडरा रही थी।

परसिया को न रात नींद आती, न दिन को ही चैन। हर समय बेचैन-सा, बावला-सा घूमता रहता, अपने ही घर के आंगन में, चिड़िया-घर के पिंजड़े में बन्द चीते की तरह।

परन्तु जिस दिन से उसने पिरथी के हत्यारे का पता लगा लिया, अपना आपा खो बैठा था। थाने में बड़ी उम्मीद लेकर गया था वह, परन्तु वहां उसे बुरी तरह झड़क दिया था। गांव के लोगों से, पंच-सरपंच सबसे कहा उसने, पांवों पर टोपी धरकर, पर कोई सुनने को तैयार न था। सबने डरा-धमकाकर वापस भेज दिया था।

रात में अन्धकार में एक दिन, फिर पुलिया के पास, नीम के पेड़ की छांह में मोहनसिंह का ठेला खड़ा था। शम्भू के घर में देर तक सिसकी छनती रही, भाग के साथ कुकड़ी भी लगी गई थी।

रातभर सब तरफ चलती रही, किसी को पता नहीं। किन्तु सुबह की फटने से पहले ही सारे गांव में लोग जाग गए थे। पुलिया के पास बड़े ढेर से आसमान को छूती लपटें उठ रही थीं और पास ही मोहनसिंह की लाश तीन टुकड़ों में कटी पड़ी थी—खून से लथपथ।

दोपहर तक पुलिस का फौज-फाटा आ पहुंचा था। सारे गांववालों की सामूहिक पिटाई चल रही थी। दरदन पुकार, हाथ बांधे सब खड़े थे—केवल परसिया के अलावा।

बस यहां तक वह यहीं था। लोगों ने उसे दस्तावेज-घर के चबूतरे पर श्मशान में बन्द उसे देखा, घबराया-सा घूम रहा था। फिर सुबह वह लापता हो गया, यह रहस्य किसी की भी समझ में न आ रहा था।

पर औ आगे आम के पेड़ से भीखू को कसकर बांधा गया था। थान-दार उसकी झुकी हुई नंगी पीठ पर सपासप सोटी मारता चला जा रहा था और वह दहाड़ मारकर चीख रहा था, कसाईखाने के जिबह होते पशु की तरह—गला फाड़-फाड़कर।

परसिया फरार था, इसलिए हत्या का सारा दोष भीखू के सिर पर मढ़ा जा रहा था। पर भीखू बार-बार यही कह रहा था कि हत्या में उसका हाथ नहीं।

जब यहीं कोई सुराग न मिला तो अन्त में भीखू को ही नहीं, भीखू की घरवाली अमिया और छोरी चंदरिया को भी बांधकर थाने ले गए थे।

आठ-नौ दिन हिरासत में रहने के बाद जब वे गांव लौटे तो उनका हुलिया ही बदला हुआ था। भीखू के घुटने टूटे हुए थे, उससे चला तक नहीं जा रहा था। गांव के लोग कन्धे पर उठाकर किसी तरह घर लाए थे। अमिया अपने को मुंह दिखलाने लायक भी नहीं समझ रही थी—लाज-शरम के मारे। चंदरिया की फूल-सी देह मुरझा आई थी। आंखों के नीचे काली-काली झांइयां। देह में दरद के मारे चला तक नहीं जा रहा था।

पुलिस के डर से कोई भी सहानुभूति जतलाने घर नहीं आया था। तीनों वैसे ही रोते-कलपते सारी रात पड़े रहे मड़ैय्या में।

पांच

"जे गांम छाड़ि के चले जात हैं···!"

"कहां—?"

"कहीं भी। हियां पुलस रोज-रोज परेशान करत है। हर हफ्ता थाना मां डियूटी। हर हफ्ता मार-कुटाई। हम आदमी हैं कि जिना-वर···?"

"दूसरे गाम मा जाकर का पुलस छोड़ि देगी ? हुआ से भी थाना मां बुलावेगी !" भीखू ने कहा।

"तो कहीं दूर चले जात है बड़ी नदिया पार। पुलस-हाकम को जहां पता भी नाहिं चलै !" समर्थन पाने की डूबती आशा से अमिया ने पति की ओर कातर दृष्टि से देखा, "हुआ कौन जानत है हमे—उस मुलक मा ! हम कऊन हैं ? का करत है ?"

"अपन गाम छाड़िना इतना आसान समझत हो ? अपन घर-दुआर ! खेत-खलिहान—।"

यह सुनते ही अमिया व्यंग्य से हंस पड़ी, दर्द-भरी हसी मे, "गहने-पत्तर गए। भाने-बरतन नाहिं रहे। खाने के लिए नाज का दाना तक नाहिं छोड़ा राकसो ने। बचा खेत-खलिहान फारम वारा किसी दिन हड़प लेइगा, जइसे सखी के बाप का हड़पा था। फिर बचा का है हियां—सिवा घास-फूस की टूटी मड़ैय्या के !"

"तू तो निरी-निरी पगराय गई है। अपन पुरखन की जमीन छाडि के कौन ठौर है हमहि ? हम हिया हि मरेंगे—इसी मट्टी मा।" भीखू ने तनिक आवेश में कहा तो अमिया सहम गई।

'एकहि पुत्तर है—फरार। कउन जाने जिन्दा भी है या···! पुलस का का भरोसो। अपन करम ही फाने है तो कउन का करि सक्त है ?" गहरी सास भरती हुई अमिया बोली, "कउन जाने का लिखा है, अपन कपाल मां ? धतूरा खाई के सोइ जाहि तो तरान मिलि है।"

"हमार परसिया हिया कभी जरूर आवेगा, जिन्दा रहा तो—तू नहिं जानत है···।" भीखू छत की ओर देखता-देखता सहमा चुप हो गया था। उसकी आकृति में अजीब-सी विवशता का, कातरता का भाव था।

सुबह कंचनिया चुपके-से आकर कुछ दाने चने के दे गई थी। उन्हें ही तवे पर भूनकर, ढेर सारा ठंडा पानी पी लिया था। चदरिया का हाथ पकड़कर वह अपने घर ले आई। चिथड़े कपड़े में बंधी, पिसी हुई हल्दी की गीली गांठ को आग की आंच मे गरम कर, सेंकती रही सारा दिन। कसाइयों ने कोई कसर नहीं छोड़ी थी। जांघों तक में सूजन थी।

छह

परसिया के फरार होने के बाद पुलिस चुप नहीं बैठी थी। आसपास के सभी थानों में उसका हुलिया पहले ही भेजा जा चुका था, परन्तु वह तराई के बीहड़ वनों में ऐसा लापता हुआ कि फिर मिला नहीं।

उसे गिरफ्तार कर पाने के सभी प्रयास विफल रहे तो पुलिस ने उसके घरवालों को और अधिक परेशान करना आरम्भ कर दिया। खेत में खड़ी फसल एक दिन जला दी। मड़ैय्या के बास छिटकाकर नीचे फेंक दिए।

भीखू की फिर पेशी हुई और चदरिया को हर हफ्ते बुलाया जाने लगा, तहकीकात के नाम पर।

तभी एक दिन सारे थारू इलाके में फिर जलजला आया, जब पुलिस के एक सिपाही की रक्तरंजित लाश सुतरिया नदी में बहती दिखलाई दी।

भदरपुर गांव के निवासियों का कहना था कि इस दुर्घटना के दो-तीन दिन पहले, रात के अंधियारे में छिपकर परसिया घर आया था। जमनिया ने खुद अपनी आंखों से देखा था। कंचनिया की झुपडिया के पिछवाड़े, पयाल की ढेरी के पास बैठा भात खा रहा था। ज्यों ही आहट आई, कन्धे पर कुल्हाडी लिए खेतों की ओर भागा और फिर वहां से जंगल की दिशा में।

पुलिस का आक्रोश अब कंचनिया पर भी उतरने लगा था। थानेदार गांव में आकर चेतावनी दे गया था कि जो परसिया को शरण देगा, उसे भी हवालात में बन्द कर दिया जाएगा। उसे खोजने का दायित्व गांववालों पर भी डाल गया था। अगर वे उसे ढूंढकर नहीं लाए तो गांव का गांव उजाड़ दिया जाएगा।

गांव के कुछ जवान-अधेड़ों को वह स्वयं जंगल की ओर खदेड़ गया

सात

आसपास खड़े वृक्ष सचमुच दैत्य जैसे लग रहे थे—बड़े-बड़े ऊंचे-ऊंचे! गदला आसमान बादलों से घिरा था। कभी-कभी बिजली कड़कने के पश्चात् अंधकार और भी घनीभूत हो आता था।

सहसा तभी हवा की सनसनाहट बढ़ती तो बांस की झाड़ियों से सीटी का जैसा शोर उठने लगा। आपस में रगड़ खाने से बांस की टहनिया विचित्र-सा स्वर गुंजा रही थी। लगता था इधर, अभी-अभी शाम को बारिश हुई है, इसलिए कहीं-कहीं गड्ढों में पानी भर गया था। नई उग आई घास से जंगल के पगडण्डीनुमा रास्ते भी ओझल हो गए थे। केवल अनुमान के सहारे परसिया अंधियारे में चल रहा था, चलता जा रहा था—हाफता हुआ—एक सुर लय, में—कांपता हुआ।

बांस की घनी, कटीली झाड़ियों से तनिक परे हटकर, जमीन पर तिरछे झुके गेर के पेड के नीचे, कूरी के पास एक विशाल पत्थर पड़ा था—हाथी की पीठ जैसा खुरदरा। उस पर बैठकर वह सुस्ताने लगा। बाएं पाव के तलवे से देर तक हथेली से दबाए रहा, शायद खून का बहना कुछ थमे।

सियारों के रोने और झींगुरों के झिन्-झिन् के अतिरिक्त और कुछ भी सुनाई नहीं दे रहा था अब।

तभी सहसा बेंत की झाड़ियों से किसी के कूदने की आहट आई। उसने आशंका से चौंकते हुए इधर-उधर देखा और एकाएक उठ खड़ा हुआ।

एक ही कदम अभी आगे बढ़ा था कि एक सफेद-सा खरगोश कान खड़े कर, बिजली की जैसी तेजी से दौड़ता हुआ बगलवाली झाड़ी में कहीं ओझल हो गया।

एक बार उठकर फिर बैठना उसके लिए असम्भव था। बैठते समय घुटनों में अजीब-सी टीस उठती, इसलिए उसने आगे, और आगे बढ़ने का निश्चय किया, जब तक कि सिर छिपाने के लिए कहीं ठीक-सा ठौर न मिल जाए !

उसके कन्धे पर कुल्हाडी उसी तरह अब तक रखी थी। जनेऊ के धागे नीचे की ओर लटके हुए। पागलों की तरह, वह बिना सोचे-समझे लगातार आगे बढ़ रहा था—जंगल और घने जंगल मे, जहा आदमी का साया उसे छू तक न सके।

उसे लग रहा था, पीछे से कही मौत उसका पीछा कर रही है। उसके पीछे-पीछे बेतहाशा भागकर आ रही है। उससे बच निकलने के अलावा और कोई चारा नही।

अभी वह नदी का पथरीला रौखड़ पार कर ही रहा था, दूर कहीं डंगरों के गले पर बंधी घण्टी की जैसी आवाज सुनाई दी उसे। कुत्ते के भूकने का स्वर ! एक बड़े पत्थर पर खड़े होकर देखा उसने—आग-सी जलती दिखलाई दी उस पार।

चारे के लिए इधर-उधर भटकने वाले घुमन्तू ग्वालों का पड़ाव-सा लगता है।

वह चुम्बक की तरह खिचता हुआ बढने लगा।

कुछ ही दूरी तय करने पर लगा, उसका अनुमान सही है। बड़ के घने वृक्ष के नीचे ढोर-डंगरों का गोल है। उसी के समीप आग धधक रही है। तीन आदमी बैठे शुल्फई पी रहे हैं। ज्यों ही शुल्फई में जोर से दम लगाते है, ऊपर एक लपट-सी उठ रही है। जरूर गांजा-अत्तर होगा !

"कौन—?" नीचे झुकी टहनियों के हिलने से वे तीनों एक साथ चौंके।

"मय—!" परसिया ने हांफते हुए कहा, "धारू हूं।"

"कहां जात हो?"

"ऐइसे ही ढोर-डंगरन की खोज मां ! घण्टिन की आवाज सुनिके इधर लौटि आए !"

"सुनत नहि जे शेर की अवाज ! सारी रात हम जागि के पहरा देत रहित हैं।" बीच में बैठा व्यक्ति बोला।

वह क्षण-भर चुप रहा—कान लगाकर। रोखड़ की दिशा से ही घर्र्-घर्र् की आवाज़ आ रही थी, ठीक वैसी ही जैसी बड़े बर्तन में मट्ठा बनाते समय बांस की भारी मथनी के लगातार घूमने से आती है।

सुल्फई में एक लम्बी दम लगाकर वह भी अभी पांव पसारकर बैठा ही था कि ग्वालों ने ढोर-डंगर हांकने आरम्भ कर दिए, नये चरागाह की खोज में।

आठ

परसिया को मालूम था उसे पकड़ने के लिए पुलिस गांव वालों की सहायता ले रही है। चौथे दिन वह नाला पार कर ही रहा था कि बिरजा पधान सामने खड़े दीखे—

"कहा भटकत हो परसुआ? गाम तबाह है। औरतन की इज्जत नांहि बची। पुलस डण्डा चलाय रहि है। तुम का घर-घर, द्वार-द्वार ढूंढत रहि हैं। तुम गांम चलो···।"

परसिया चुप—उनके चेहरे की ओर देखता रहा।

"तुम्हार घर कछु बचि नांहि। झुपडिया तोड़ि डारी है। भीखू भीख मांगत है। चंदरिया की लाज तोहार हाथ है। तू घर चल!"

इस बार भी वह कुछ बोल न पाया।

"पुलस नाय करन को बोलत है, तोहार साथ। तू चल। तोहार मदद हम करि है—सारे गांम-गिराम के लोग···।"

"पुलस कब नाय करत है?" परसिया तुनक कर बोला, दबे आक्रोश के स्वर में, "वह तो खुद हि अनाय कराय रहि। हमार गय्यन-भैंसन को जे फारम वाले टरक मां धरि के ले जात है, तब पुलस का करत है? हमारि बहू-बेटिन को लोग घसीट के लेइ जात हैं, जोर-जबरन करत हैं, तब तोहार पुलस कहा जात है? चोर हर साल डाका डालत है। करछी-कटोरी-सब उठाय के ले जात हैं, तब पुलस को कछु नांहि सूझत? हमारा खेतन मां

फारमवारे कब्जा करि लेत है, तब पुलस किसका साथ देत है ? ऐसी पुल-सिया पर हमार भरोसा नाहि, तोहार है तो तुम जाओ···।"

"तो का तू गांम नाहि चलि है ?" कड़ककर बिरजा पधान ने कहा तो परसिया सहसा सन्नद्ध हो उठा। कुल्हाडी के बेंट पर हाथों की पकड़ तनिक तेज़ करता हुआ बोला, दांत पीसता हुआ, "काका, रार नां मचाओ ! खैर मानत हो तो लौटि जाओ। नाहिं तो हम कुछ भी करि सकत हैं—।"

बूढ़े बिरजा की फिर हिम्मत न पड़ी।

परसिया कन्धे पर कुल्हाड़ी रखकर फिर आगे बढ़ा, मिट्टी रौंदता हुआ। कुछ कदम चलकर एकाएक रुका, "फारमवारे बिरजबासी से कहि देना, झन्नू से भी, तोहार भी दुई टुकड़े नाहि किए तो हमार नाम परसुवा नाहि ! फारम जलाय के हि हम फांसी पर झूलेंगे। अन्नाई दैत कही के !"

नौ

परसिया फिर वर्षों तक गांव लौटा नहीं।

पूरे पांच साल बाद रात के अंधियारे में एक दिन उसने कंचनियां की मड़ैय्या का द्वार खटखटाया।

"कऊं-न—?" बीमार-सा नारी स्वर था।

"कंचनियां तूं—!"

वह निर्निमेष उसके चेहरे की ओर देखता रहा। गोदने के नीले निशान आज कहीं भी दीख न रहे थे।

बढ़ी हुई काली दाढ़ी ! फटे कपड़े। विकराल रूप !

"काका किधर हैं ! हमार झुपड़िया कहा है—?" अभी वह पूछ ही रहा था कि कंचनियां ने चुपके से पूरे किवाड़ खोल दिए और भीतर आने के लिए इशारा किया।

"काका···नाहि रहे—?" इससे अधिक कंचनियां बोल न पाई।

"कइसे-कइसे ? का भवा ?" परसिया का मुंह खुल आया अचरज से।

"पुलस की मार-पीट से परेशान होइ के, अऊर तोहार जिन्नगी बचाने के खातर काका ने थाने मां बोलि दिहा कि सरदार सोहनसिंह का कतल हम करि है। पुलस का सिपाही हम मारि है। फारमवारे बिरज-वासी को भी। बिरजा काका ने गवाही दे डारी और काका को फांसी होइ गई, गए चैत मां…।"

परसिया देर तक स्तब्ध-सा खड़ा रहा। अपने को सम्भालता हुआ फिर बोला, कुछ सोचता हुआ, "अम्मा किधर है ? चंदरिया—?"

"गाम छाड़ि के सब निकरि गहे। अब कोइ नाहिं हिंया। झुपड़िया की ठौर मां संखिया के बाप ने ऐहि फसल मां धान बो डारा है। देखत नहीं, घेर-वाड़ लगा है ?"

कोने में मिट्टी तेल की ढिबरी भभक रही थी। उसी के पास बांस की चटाई पर कोई नन्हा शिशु गहरी नींद में डूबा था।

"जे कौन—?"

इस प्रश्न का कंचनिया कोई उत्तर न दे सकी। कभी वह बिछौने पर सोए शिशु की ओर देखती, कभी परसिया के बुझे हुए, आतंकित चेहरे की तरफ।

कुछ क्षण यों ही प्रस्तर प्रतिमा की तरह निस्पन्द खड़ा रहा परसिया। सहसा न जाने क्या सोचता हुआ मुड़ा, तो कंचनियां ने टोका, "कहाँ जात हो—इत्ते अनेरे मां…?"

प्रत्युत्तर में परसिया कुछ भी बोल पाया। अंधियारे में चुपचाप चलता रहा, कन्धे पर कुल्हाड़ी धरे !

**

कांछा

वह गया था—नन्ही अंगुलियों की जड़ों की दरारों में। भीतर के कमरे में पहले हंसने-बोलने का स्वर—सम्मिलित स्वर देर तक गूंजता रहा था। पर अब चनक बन्द थी। मिट्टी तेल का मम्फू भी बुझ गया था। लगता था—सब सो गए हैं—सारी दुनिया। हां, कभी-कभी बाहर कहीं, ठण्ड से ठिठुरते कुत्ते का कर्कश स्वर अवश्य गूंज रहा था।

जगह-जगह में छलनी हुआ, मिलिटरी का फटा खाकी कम्बल लपेटे वह एक किनारे पर लुढ़क गया था—बंधी गठरी की तरह। उसके चेहरे पर धीरे-धीरे आतंक का भाव गहरा होता चला जा रहा था। उसे लग रहा था—वही वीभत्स, डरावना सपना वह जागी आंखों से फिर देख रहा है—स्वयं अपने को टुकड़ों में कटता हुआ•••

बिल्ली की-जैसी नुकीली मूछों वाला यह 'भेड़िया' कभी भी उसे अच्छा नहीं लगा—वैसी ही लाल-लाल आंखें। वैसा ही डरावना चेहरा।

कम्बल कसकर लपेट लेता है वह।

उस दिन भी इसी तरह बर्फ गिरी थी•••तीन दिन तक लगातार•••

उसका मन उदास हो जाता है। उसकी आंखों के सामने पहाड़ के ढलान पर बसा दूर-दूर छितरे घरों वाला एक छोटा-सा गांव घूमता है—देवदार के घने वनों से घिरा। चीड़ के पिरोल की नुकीली पत्तियों से छंहा, एक टूटा छप्पर। छप्पर की छांह में रहने वाले तीन प्राणी। पांवों के पास बंधी मिमियाती बकरी—चीतल की पाठी की तरह मटमैली! भोली! जिसके सींग भी अभी तक फूटे न थे। अपना माथा, उसके माथे से टिकाकर वह कभी-कभी खेल में ज़ोर आजमाइश किया करता था—बकरी की ही तरह ठेप देकर, हल्की-सी आक्रामक मुद्रा बनाता हुआ माथे से माथा भिड़ा देता—ठप्प्-से।

पहले तो बकरी बालिश्त भर पीछे हटती—मोर्चा जमाने के लिए, पिछले दोनों पांवों पर तनिक अधिक बल देती हुई, फिर वह भी उसी तरह हमला कर देती, ठीक उसके माथे पर अपने माथे का निशाना साधती हुई—गरदन किंचित् पीछे की ओर टेढ़ी मोड़कर—ठप्प् की आवाज़ के साथ दोनों भिड़ जाते। एक आक्रमण के बाद, फिर सहसा पीछे हट जाते दोनों—दूसरे आक्रमण के लिए मोर्चा सम्भालते हुए।

यह आक्रमण-प्रत्याक्रमण का क्रम तब तक चलता, जब तक कि दोनों थक नहीं जाते !

बकरी के गले में रामबास की पतली-सी रस्सी बांधे वह नीचे नौला की ओर दौड़ता हुआ ले चलता है—पानी पिलाने के लिए। सीढ़ीनुमा खेतों के मेड़ों पर उग आई नरम-नरम, हरी घास अपने नन्हे हाथों से नोच-नोचकर, उखाड़कर, उसकी आंठी बकरी के मुंह की ओर ले जाता है···

उसकी छोटी-सी घुसली पीठ पर हाथ फेरता हुआ, जब तक वह एक-एक तिनका भली भांति खिला न देता, सामने से हटता न था।

'शिवरात' के मेले मे चार कोट दाड़िम बेचकर वह पीतल की छोटी-सी टुन्-टुन् घण्टी लाया था—खरीदकर। दिनों तक उसे बकरी के गले पर बांधे रहा। दलबहादुर की शादी की रात, भीड-भड़क्के मे न जाने कौन उसे उतारकर ले गया था! तब मां की फटी घाघरी की गोट पर लगा, लाल कपड़े का बित्तेभर का टुकडा चीरकर, रस्सी की तरह बटकर बकरी के रीते गले पर बांध दिया था—फीते की तरह।

वह रंग-बिरंगा टुकडा कितना अच्छा लगता था! 'अ ऽ ले ऽ ले!' कहता हुआ, जब वह दूर से आता दिखलाई देता, तब वह अपनी नन्ही-सी रोंएदार पूंछ आसमान की ओर खड़ी कर, फर्-फर् इधर-उधर हिलाती हुई मिमियाने लगती।

अपनी दाहिनी हथेली से वह रोज उसके सिर पर, दोनों कानों के बीच सहला-सहलाकर देखता—अनुमान लगाता—सींगों की जगह अब कुछ-कुछ उभरी-सी लगती है—खूटे की तरह। लगता, अब सींग फूटने ही वाले है···।

न्यफा, काजु, धामलि, गोरु, रोज अपनी बकरियों के लम्बे कान पकड़ कर घसीटते रहते है, परन्तु उससे ऐसा कभी भी हो न पाता! उसके हाथ कांपते। लगता, इस तरह जोर से कान खीचने पर वे जड से उखड़ गए तो!

बिना कानो के बकरी कैसी लगेगी! फिर उसे दरद भी तो खूब होगा न! उसकी बकरी अभी कित्ती छोटी है!

स्वयं को दरद देना उसे स्वीकार था, पर अपनी बकरी को नही!

उसके नन्हे प्राण कहीं नन्हीं बकरी मे बसते थे शायद !

अपने मामा के घर—पानिघार से लाया था, वह इस बकरी को। साल-सवा साल तक उसने मामा की गाय-बकरियां चराई थीं—ग्वाला के बीहड़ वनों मे। उनके पास ग्वाला नही था, इसलिए मां से कहकर उसे बुला लिया था— हाथ बंटाने के लिए।

पिता के लापता हो जाने के बाद, मामा के घर का ही कुछ सहारा बचा था। कालि पार, हिन्दुस्तानी-राज मे पिता, आसपास के अन्य डोटियालों के साथ मेहनत-मजदूरी करने गए थे। साल-दो साल बाद और तो लौट आए, पर वह आज तक लौटे न थे। कुछ लोग कहते है—नदी पर पुल बनाते समय वह गए। कुछ लोग कहते है—बरमदेव मण्डी मे हैजे से मर गए। दुल्लू-दैलेख की तरफ भी किसी ने देखा था। कुछ का कहना था कि किसी विधवा से ब्याह करके नया घर बसा लिया है उसने—कंचनपुरा की तराई की तरफ। पर यदि सचमुच जिन्दा होते तो क्या एक बार भी कभी घर न आते !

फिर भी वह जिन्दा हैं—यही मानकर मा ने अपने गले मे चरेऊ का पल्ला अब तक बांधा हुआ था। चूड़िया भी उतारी नही थी। पर बड़े बेटे जेठा के गुजर जाने के बाद से अपने को हर तरह से असुरक्षित-असहाय अनुभव करने लगी थी। जेठा छोटा होने के बावजूद थोड़ा-बहुत हाथ तो बटा ही देता था···

मामा के घर आकर भी सुख मिला नही। गाय-बछिया के पीछे-पीछे दिन-रात जंगलो मे भटकने के पश्चात् भी भरपेट भोजन नहीं। सबके खाने के बाद जूठा-पीठा जो भी बचता, उस सबको एक बर्तन मे डालकर, उसके सामने रख देते—पशुओं की तरह। और वह दिनभर का भूखा उन जूठे टुकड़ों पर टूट पड़ता। मामी ने कभी एक बार भी नही पूछा कि कुछ और चाहिए ? या इत्ते से पेट भर जाता है कांछा !

रात को कभी-कभी उसके पांव दुखने लगते। असह्य पीड़ा होती। धौलि गाय इधर भागती, तो कालि गेतों की तरफ। बछड़े तो एक पल के लिए भी एक स्थान पर टिके नही थे। डेढ सींगवाला बैल और भी विचित्र था। लगूरो को देखते ही, पूछ हवा में सीधी खड़ी कर, आंखें मूदे

सरपट भागने लगता।

लगभग सवा साल इसी तरह बीता। तभी एक दिन घर से मां आई और उसे साथ ले गई।

कर्कशा मामी को जाते समय न जाने क्या सूझा! बकरी की यह पाठी भी साथ बांध दी थी। मां मना करती रही, पर वह न मानी, "बरस-भर मिहनत के बाद इत्ता तो ले जा!"

दो

मूंज की रस्सी गले पर चुभती थी, इसलिए उसने बाड़ मे लगा हरा रामबांस कूटा और उसकी रस्सी बना ली। गहत-भट् के भुने जा भी दाने खाने को मिलते, पहले वह बकरी के मुंह की ओर ले जाता, फिर खुद खाता। जाड़ों में पता नहीं, कहां-कहां से बटोरकर हरी घास के तिनके लाता। रात को अपने फटे कम्बल का एक हिस्सा उसकी पीठ पर डाल देता, जब तक वह चुपचाप बैठी रहती, किंचित् ताप मिलता, किन्तु ज्यों ही हटती कम्बल भी खिसक जाता।

उसके धूप तापने के लिए आंगन में, बित्ते भर की जमीन उसने साफ कर दी थी। अपने छोटे-छोटे हाथों से उसे गोबर से लीपकर, उसके ठीक बीचोंबीच अंगूठे के बराबर एक खूटा गाड़ दिया था, जिसके सहारे बकरी बंधी रहती थी। ज्यों ही धूप का टुकड़ा सरकता, वह उसे दूसरी जगह बांध देता था।

रात को आग के पास बैठी मां मडुवे की काली-काली रोटियां सेंकती तो वह उसे गोदी में बिठाए हथेलियां गरम कर, सहलाता रहता। बकरी आंखें मूंदे चुपचाप बैठी रहती। भीषण सर्दी के कारण अक्सर बकरी की नाक छोटे बच्चों की तरह बहती"'चूल्हे के पास से ठण्डे पानी का छींटा कभी भूल से भी शरीर पर पड़ जाता तो थर्र्-र्-से सारे बाल खड़े कर स्वयं झटपट उठ पड़ती"'

उसके दाहिने पाँव का आगे वाला आधा खुर जोगिया रंग का था। 'भिरशूली थान का बूढ़ा पुजारी कहता, 'यह पाठी तो देवी को चढ़ेगी'''।'

देवी को तो नहीं चढ़ी वह, हा, देवी गुरग एक दिन अवश्य खा गया था उसे।

दूर का रिश्तेदार था—हिन्दुस्तानी फौज के गुरखा-रेजीमेंट में सिपाही। रिटायर होने के बाद अब अपने घर आया था—डोटि-नइपाल। खेती-पाती करके अपना जीवन-यापन करता था। एक-दो बार पहले भी वह यहीं से होकर कहीं गया था और रात को रुका भी था।

मा के हर काम में रुचि लेता। कहता, "मानबहादुर जिन्दा होता तो क्या अब तक घर नहीं आता? बरमदेव मण्डी में ही मरा था वह। हमारे डम्बर बहादुर थापा ने अपनी आंखों से देखा था। उसकी लाश कालि गंगा में बहा दी थी उसने'''।"

इस पर मा ढुल-ढुल रोने लगती, "वह कोई और होगा और होगा। परदेस का मामला है। हो सकता है, कहीं नौकरी-चाकरी में हो। जब तक टका-दो-टका पास नहीं होगा, लौटेंगे किस मुह! मेत गिरवी हैं। रहने को यह टूटी झोपड़ी! बर्फ के भार से किसी दिन बैठ गई तो, हम सब भी दबे पड़े मिलेंगे—।"

"तू तो निरी पगली है। इतने साल हो गए। अब तक तो लोग सात समन्दर पार से भी आ जाते हैं। तू मान क्यों नहीं लेती कि वह मर गया है, जब सारी दुनिया यही कह रही है'''!"

मा का रुदन तब और बढ़ जाता।

"मेरे होते हुए तू क्यों चिन्ता करती है।" उसने मा का ठण्डा हाथ अपने हाथ में ले लिया था। पर मां वैसी ही चुप आंसू पोंछती रही थी।

रात को आग के पास बैठे वे पता नहीं कब तक बातें करते रहे थे! और पता नहीं कब काछा को नींद आ गई थी!

रात शायद अधिक बीत गई थी।

आग बुझने पर तनिक सर्दी-सी लगी तो सहसा उसकी नींद उचट गई थी। उसने देखा था—एक कोने पर बिछी फटी चटाई पर मा और देवी गुरग, एक ही कंबी में लिपट कर सो रहे हैं—एक होकर। ऐसे ही

मामा-मामी को भी उसने देखा था—कई बार—कठवाड़े की दीवार के दरार से···

पता नहीं क्यों, उसे सब अच्छा नहीं लगा था ! देबी गुरंग भी उसे अच्छा प्रतीत नहीं हुआ था। घोड़े का जैसा मुह ! ऊपर की ओर उठी बिल्ली की जैसी नुकीली, छितरी हुई मूछें। 'हो-हो' मुह फाड़कर हंसता तो पिशाच-जैसा लगता—वीभत्स !

दो-तीन महीने बाद वह फिर आया था। पता नहीं मां उसके आने पर इतना खुश क्यों थी ! पडोस मे सुन्तोली के घर से चा की पत्ती और गुड़ मांग कर लाई थी। साथ में एक पतीली गेहूं का आटा भी।

इस बार गुरंग तीन-चार दिन तक रुका था। साथ में लाल दवाई की बोतल भी लाया था।

एक दिन आंगन में बैठा वह बकरी को घास खिला रहा था कि बीड़ी का धुआं उगलता हुआ गुरंग बोला था, "खाने के लिए अच्छी है। मेरे घर में चार-पांच पाठियां और हैं—ऐसी ही। इसके खेलने के लिए ला देंगे। आज बहुत सर्दी है, इसे भून लेते हैं···।"

आमा ने कांछा की ओर देखा था।

कांछा भभक पड़ा था। रस्सी कसकर हाथ पर लपेटता हुआ चिल्लाया था, "यह मेरी बकरी है ! इसे मैंने पाला है। मामा ने मुझे दी थी। इसे मैं नहीं दूंगा, नहीं दूगा···!"

मां को शायद यह अच्छा नहीं लगा था, "तेरे लिए ऐसी और पाठियां ला देंगे तेरे चाचा। मांग रहे हैं तो दे दे। देख, तुझे कितना प्यार करते हैं ! तेरे लिए कोट लाए है। कपडे का जूता भी···।"

"मुझे नहीं चाहिए तुमारा कोट। तुमारा जूता !" कांछा तुनक पड़ा था, "बस्स, मैं अपनी बकरी नहीं दूगा···।"

मां कुछ न बोलकर चुपचाप भीतर चली गई थी। इस बार गुरंग उसके लिए बहुत-सा सामान लाया था···रंग-बिरंगी धोती थी। कांच की ढेर सारी चूड़ियां, बालों पर बांधने के लिए रेशमी झालरदार फुन्दे···

पास ही नौला था। वहां से पानी भरकर लाने के लिए मां ने कांछा के हाथ में रीती पतोली दे दी थी।

नौला के सामने घास उगी थी—बिच्छू के बड़े-बड़े कांटेदार पौधे ! नीचे कीचड़ था। बच्चे नौले के पानी में डूबे पत्थरों से गनेल पकड़ रहे थे। कांछा की जेब में भी एक गनेल के सींग बांध लिए थे। अब उसे वह पत्थर पर चला रहा था···

सांझ के अंधियारे में जब वह घर की ओर बढ़ा, तो आगन में ऊंची आग जलती दीखी।

ज्यों ही आंगन की सीढ़ियों पर पांव रखा, उसने देखा—बकरी का धड़ एक ओर लुढ़का पड़ा है। जलती आग पर रखकर, जिसकी खाल के सारे बाल जला दिए हैं। पतली-सी लाठीनुमा लकड़ी के नोक पर बकरी का कटा सिर अटका है। गुरंग धधकती आग में उसे भून रहा है···ज़मीन पर चारों ओर खून-ही-खून बिखरा पड़ा है, जो मिट्टी के साथ सनकर काला हो गया है।

कांछा चीख पड़ा। उसने आवेश में एक जलती लकड़ी उठाई और ज़ोर से गुरंग पर दे मारी।

गुरंग का हाथ झुलस गया था। चिंगारियां गिरने से कालर के पास से ऊनी कोट भी कुछ जल गया था। मुंह पर भी कुछ चोट लगी।

गुरंग ने बाज़ की तरह झपटकर उसे इतनी ज़ोर से चांटा लगाया कि वह ज़मीन पर औंधे मुंह गिर पड़ा था।

"मेरी बकरी तुमने क्यों काटी ? क्यों काटी ?" वह पागलों की तरह लगातार चीखे चला जा रहा था।

वह फुंफकारता हुआ फिर उठने लगा था कि मां ने पास पड़ी लकड़ी से उसे तड़ातड़ कूटना शुरू कर दिया, "मरता भी तो नहीं राकस ! इसी के लिए जी रही हूं, पर यह है कि किसी और को जीने भी नहीं देता ! पैदा होते ही मर मुकता तो आज यह संकट तो न होता ! दो रोटियां तो कहीं से भी बटोर लेती ! इत्ती बड़ी दुनिया है···!"

कहती-कहती वह स्वयं भी रो पड़ी थी—दहाड़ मारकर।

तीन

आंच पर रखी पतीली में बुदबुद् मांस पक रहा था। वातावरण में तीखी गन्ध बिखर रही थी। समीप ही कांछा अचेत-सा सोया था। पीठ पर, घुटनों पर, जगह-जगह लकड़ी की मार के नीले निशान थे। बाईं कुहनी से लहू बह रहा था।

"येऽऽ कांछा, ले रोटि खा ले…!" मां ने आवाज़ लगाई तो उसने जैसे सुनकर भी सुनी नहीं। वैसा ही पड़ा कराहता रहा।

गुरंग पास ही बैठा अंगारों पर रखकर कलेजी के टुकड़े भून रहा था। उन पर नमक मिलाकर, बड़ा स्वाद ले-लेकर चबा रहा था। पास ही पीतल का गिलास था, जिसमें से घूट भरकर वह कुछ गटक रहा था।

मां ने मड़वे की एक मोटी काली रोटी, और एक कटोरी में गरम-गरम मांस उसके पास रख दिया, जिसे कांछा ने छुआ तक नहीं।

रोटियां बन चुकी तो दोनों पास बैठकर खाने लगे।

"अरे, तू नमक के साथ क्यों खा रही है—शिकार ले ले !" गुरंग ने कहा तो वह जैसे किसी दूसरी दुनिया में खोई हुई थी।

"आज बरत है न ! शिकार नहीं चलेगा…।"

"हो-हो," करता हुआ गुरंग हंस पड़ा था, "तो सब मुझे ही खाना पड़ेगा ?"

मां ने पहला कौर तोड़ा ही था कि सहसा हाथ ठिठक गया, "कांछु, रोटि खा ले बबु !"

एक-दो बार उसने ये ही शब्द अनुनय से और दुहराए तो गुरंग को न जाने क्या सूझा ! कम्बल का कोना खींचकर, उसे झकझोरता हुआ तड़ककर बोला, "ये हरामि साला, खाता क्यों नहि ?"

कटोरी से उठाकर एक बोटी उसके मुंह पर जबरदस्ती लगाने ही वाला था कि कांछा चिल्ला पड़ा, "नहि, नहि, मुझे नहीं खाना…मेरी

बकरी तुमने क्यों मारी क्यों···?" सचमुच वह फिर रो पड़ा।

"मेरे घर में ले आना हरामि···!"

"मुझे नहीं चाहिए और! बस, मेरी ही बकरी मुझे दे दो।" फटी, काली आस्तीन से बहती नाक पोंछता हुआ, वह सिसक पड़ा।

मां ने उसके माथे पर हाथ लगाया, जो तप रहा था, "कुछ खा ले कांछा···दिन-भर से भूखा है। शाम तो कह रहा था—बड़ी भूख लगी है मां!"

तन पर कम्बल लपेटे काछा कुछ क्षण बाद चुपचाप उठा और बाहर निकल गया—गहरे अंधेरे में।

मां बाहर आई।

गुरंग भी।

पर वह अंधकार में ऐसा खोया था कि कहीं कुछ अता-पता ही न मिला।

थककर, हारकर दोनों भीतर चले आए थे।

कांछा पड़ोसी के जानवरों के गोठ में जाकर चुपचाप छिप गया था। कुछ देर अंधियारे में बैठा रोता रहा। फिर तनिक भय-सा लगा तो उठ खड़ा हुआ। खूंटे के आगे अंधकार में कुछ हिलता-डुलता-सा लगता। सांकल खोलकर दबे पांव बाहर निकल आया। अपनी मड़ैय्या के कच्चे किवाड़ के पास आकर ठिठक गया—

हल्की पीली आग उसी तरह जल रही है···भीतर से खिलखिलाकर हंसने की आवाज···गुरंग झगड़ा कर रहा है—हंस-हंसकर हाथापाई···लोग ऐसे भी झगड़ते हैं! क्यों झगड़ते हैं? उसकी समझ में नहीं आ पा रहा था···मां के शरीर पर नाम मात्र के कपड़े भी उघड़े हुए··· वैसा ही गुरंग···

कांछा ने आंखें मूंद लीं। उसकी समझ में कुछ भी न आया, फिर भी उसे यह सब अच्छा नहीं लगा। सांकल खोलकर वह फिर पशुओं के गोठ में घुस गया। मुड़े हुए घुटनों पर सिर टिकाए कछुए की तरह, हाथ-पांव सिकोड़े बैठ गया और सारी रात इसी तरह बैठा रहा···

चार

सुबह दूध दुहने आई पडोसिन ने देखा तो अचरज मे पड गई, "अरे, कांछा, तू यहां क्या कर रहा है ?"

काछा उसी तरह बैठा रहा। सूजी हुई लाल-लाल उनींदी आंखों से अपलक देखता रहा।

इतने में उसे खोजती-खोजती मा भी आ पहुंची।

पुचकार कर घर ले गई, "तू तो निरा-निरा पागल है रे कांछु ! रात खाना भी नही खाया, और इस ठण्ड में यहां आकर छिप गया है ! कही तुझे बाघ या सियार उठाकर ले जाता तो···!"

कांछा वैसा ही गूगा बना रहा।

आंगन पर आकर उसने देखा—

ताजी कुछ हड्डियां बिखरी है—नारंगी के पेड की जड पर—सिसुड़े के पौधे के पास।

उन्हे समेट कर उसने मुट्ठी मे दबा लिया। जहा पर बकरी का खूंटा गड़ा था, वही पर उन्हें रख दिया मिट्टी और हरे पत्तों से, बड़े जतन से ढक कर।

"क्या कर रहा है कांछी ?" मां ने मुडकर देखते हुए पूछा—महज जिज्ञासा से।

"कुछ नही···बकरी को बो रहा हू···यहा पेड़ उगेगा, जिसमें बकरियां लगेंगी···!"

"हो—हो—हो—।" गुरंग भीतर से मुंह फाडकर हंसता हुआ आया, "इसी के साथ-साथ तुझे भी बो दू तो हरामि !"

मां को गुरंग का यह व्यग्य अच्छा नहीं लगा। कांछा का हाथ पकड़-कर वह भीतर ले गई।

"तेरे भाग का शिकार रखा है, कटोरी में ! खाएगा नही ?"

कांछा प्रत्युत्तर मे कुछ बोल न पाया। डबडबाई आंखों से देखता रहा…

गुरंग इस बार पूरे नौ दिन रहा। कांछा ने देखा—गुरग खुश है। दिन-रात मुंह फाड़े हंसता रहता है—बात-बिना बात। इस घर के हर काम मे अपने घर की तरह दखल देने लगता है। मां भी प्रत्येक बात मे उसको राय लेती है। जो कुछ वह कहता है, वही होता है।

हमेशा गुमसुम-सी रहने वाली उदास मा में भी उसे बड़ा परिवर्तन लगता है। गुरग जो नए कपड़े लाया था, उन्हे बड़े सलीके से पहनती है। बालों को चुपड़कर रखती है। माथे पर लाल पिट्ठयां लगाती है…

जब तक बाप था, मा ऐसे संवरकर कभी भी न रही। दोनों प्राय-एक-दूसरे से झगड़ते रहते। बाप को सुल्फई पीने की आदत थी, जिसस सूखकर जग लगी काली कील-सा रह गया था। इसी बात को लेकर घर मे आए दिन कुहराम मचा रहता।

"तुझे तेरे देवी चाचा अच्छे नही लगते ?" मा ने एक बार पूछा तो उसने मात्र सिर हिला दिया था—आक्रोश मे। इसके बाद फिर कोई प्रश्न पूछने का उसे साहस ही न हो पाया।

पांच

कार्तिक का महीना बीत रहा था। वृक्ष एकदम सूखे लग रहे थे—एक भी पत्ता कही दीखता न था। चारों ओर वीरानी-ही-वीरानी—डरावनी उदासी का विकट साम्राज्य ! नदी, नालों के किनारों का पानी जमने लगा था। ठोस, पारदर्शी शीशे-से काकरों पर पाव पड़ता तो कर्र्र् से टूटने-चटकने की आवाज होती। बच्चे बच-बचकर किनारे पर चलते। कही स्वच्छ जल से कोई बड़ा-सा, चौड़ी थाली-सा कांकर तोड़कर धूप मे बैठकर चूसने लगते—ठण्ड से ठिठुरते हुए।

रात को पाला इतना गहरा पड़ता कि सुबह सारी धरती हिम की

तरह सफेद लगती। जिन ठण्डे स्थानों पर धूप न आ पाती, वहां दोपहर तक भी सफेदी छाई रहती।

कुहरा झुर रहा था। उगता ठण्डा सूरज कहीं मोटे-मोटे बादलों के बीच ऐसा घिर गया था कि उसके अस्तित्व का ही आभास न हो पा रहा था।

तभी चीड़ के कच्चे किवाड़ खड़खडाने की आवाज़ सुनाई दी उसे। फटी हुई, चीकट, काली गुदड़िया लपेटे वह बाहर की ओर लपका। सांकल खोली ही थी कि सामने गुरंग खड़ा दिखाई दिया।

"अरे, कांछा कैसा है तू···?" गुरंग ने उसे अपने दोनों बलिष्ठ हाथों से ऊपर उठाकर ज़ोर से चूम लिया था।' परन्तु गुरंग का यह लाड़ उसे रंचमात्र भी अच्छा नहीं लगा था। बिल्ली की जैसी छितरी मूंछें चुभी थीं। गाल पर लगा गीला निशान उसने उतरते ही, अपनी फटी आस्तीन से रगड़-रगड़कर पोंछ लिया था।

गोदी से उतरते ही वह झटपट दूर भाग खडा हुआ था।

जब-जब गुरग आता, पता नही क्यों उसे एक विचित्र-सी बेचैनी घेर लेती थी।

उसे गुरंग ही नही, कभी-कभी तो मां भी अच्छी नही लगती थी। पता नहीं क्यों एक अदृश्य शंका उसके मन के किसी कोने में घर कर गई थी—एक मूक वितृष्णा। कभी-कभी वह परेशान-सा हो उठता।

दूसरे दिन गुरंग पास के ही गाव के किसी रिश्तेदार से मिलने गया था। मां घर के जूठे वर्तन समेट रही थी, "कांछा, तेरी तबीयत तो ठीक है न!"

कांछा ने जैसे सुना नही। अपनी छोटी-सी गुलेल पर वह कसकर तागा बांधता रहा।

"अपने देवी चाचा के साथ चलेगा—उनके घर? वहां गाय हैं। भैंस हैं। तेरे खेलने के लिए बकरियां भी हैं—छोटी-छोटी···।"

कांछा इस बार भी उसी तन्मयता से लगा रहा।

"तेरे चाचा कहते हैं, वहां पक्का मकान है। लम्बा-चौड़ा आंगन। दाड़िम, अखोड़, सन्तोल के पेड़ हैं···।"

"......"

"और कुछ भी न मिला तो कम-से-कम भरपेट रोटी तो मिल जाएगी—दो छाक। तन ढकने के लिए फटे-पुराने कपड़े···यहां किसके सहारे रहें रे? तेरे पिता को गए, इत्ते दिन हो गए···जिन्दा होते तो क्या अब तक घर न लौटते···?" मा का गला भर आया था।

"तू जा···मुझे कहीं नहीं जाना···।" वह अभी गुस्से से कह ही रहा था कि मां उसके भोले-भाले चेहरे को, उस पर उभरती-उतरती गुस्से की रेखाओं को देखती रही। फिर झट-से उसे प्यार से चूमती हुई बोली, "यहां क्या अकेला ही रहेगा?"

"हांऽ।" उसने दृढ़ता से कहा।

"क्या खाएगा? किसके पास रहेगा?"

"स्याना सेठ की नउकरी करूंगा···।"

मा ज़ोर से हंस पड़ी, "क्या कहा, तू नउकरी करेगा? पगला!"

"तो मामा के घर चला जाऊंगा···!"

मां और भी ज़ोर से हंस पड़ी थी।

छह

पीठ पर बंधे बास के लम्बे डाबके में कपड़े-लत्ते, बर्तन-भाडे, समेटकर वह आगे-आगे चल रही थी। उसके पीछे पिट्ठू लटकाए, बांस की लम्बी लाठी टेकता हुआ देवी गुरंग। सबसे पीछे, अपने टखनों तक बाप का फटा सूती कोट लटकाए कांछा—जाड़े से थर-थर कांपता हुआ—पीठ पर पोटली बांधे।

सारी वटिया सफ़ेद पाले की मोटी परत से ढकी थी। उस पर चलते-चलते उसके मुट्ठी के बराबर छोटे नगे पाव सुन्न हो रहे थे। वह बार-बार किसी पत्थर पर, पांव झटकते हुए तलुवे रगड़ रहा था, ताकि संज्ञाशून्य होते पांवों में तनिक ताप आए!

मुंह से गहरी भाप उठ रही थी, हल्के कुहासे की तरह। फटे कोट की लम्बी जेबों में उसने अपने दोनों हाथों की बन्द मुट्ठिया ठूस रखी थी, बाट-बट्टे की तरह। दाहिनी जेब के अन्तिम सिरे मे रामबास की पतली-सी रस्सी का वह टुकड़ा भी था, जिससे वह कभी अपनी दिवंगता बकरी को बांधा करता था !

ठीक मकई के खेत पर रखवाली के लिए खड़े किए गए पुतले-जैसा लग रहा था वह !

गुरुंग इससे पहली बार उसके लिए जो कपड़े लाया था, उसने छुए तक न थे।

कहां जा रहे है ? किधर ? उसकी समझ मे न आ पा रहा था।

नीचे, गहरी, अंधेरी घाटी की ओर से तीनों चुपचाप आगे बढ रहे थे। रास्ता ऊबड़-खाबड़, कच्चा ! सारे वन मे धुध-सी छाई थी—सफेद धुआं-जैसा ऊपर की ओर उठ रहा था। किसी पक्षी का 'घुग्घू' उदास स्वर बिखरकर, वातावरण में और भी उदासी बिखेर रहा था। बटिया के किनारे-किनारे एक लोमड़ी अपनी झब्बेदार दुम दबाए भाग रही थी। कुछ कदम चलने के बाद, पलटकर फिर पीछे देखती, और उसी गति से लपक-लपककर दौड़ती हुई आगे बढती। लम्बी पूछवाला एक बडा-सा रंग-बिरंगा पक्षी बुरौंज की एक टहनी से उड़कर झप्प्-से दूसरी पर बैठ गया था···

कांछा को ठोकर लगी, वह गिरते-गिरते बचा कि तभी गुरुंग ने गुस्से से देखा, "आंख देखकर नही चलता कानि का छोरा ! मरने पर ही उतारू है तो कुत्ते के पिल्ले, नीचे नदी में छाल मार ले !"

कांछा के पांव का एक नाखून नीला पड़ गया था। असह्य वेदना से तड़पता हुआ वह किसी तरह आंसू रोके रहा—गुरुंग की मार के भय से।

सात

नया इलाका। नया गांव। नया घर। नया पिता। नया परिवार—उसे अजीब-सा लग रहा था—एकदम अपरिचित। बेगाना।

मकान पक्का था—पत्थर का। नीचे गोठ में पशु बंधते, ऊपर की मंजिल में लोग रहते। घर, काछा के अपने घर से बड़ा था, पर यहां रहने वालों की संख्या भी कम न थी। घर की मालकिन के अपने ही सात बच्चे थे—वह स्वयं मां से अधिक दादी लगती थी। सुरकने वाले कपड़े के बटुए-जैसा मुंह था, जो दिन-रात हर समय खुलता-बन्द होता रहता। गालियों का सिलसिला भी अबाध चलता। जब से मां के साथ वह पहुंचा है, कहते हैं, उसका तीखा-कर्कश स्वभाव और भी तीखा हो गया है। घर में हर समय युद्ध की-सी भयावह स्थिति!

उसके नये पिता ने गलत नहीं कहा था। नीचे गोठ में बादामी रंग की बूढ़ी बकरी अवश्य थी, जिसकी तीन पाठियों में अब मात्र एक ही शेष थी—जिसकी चमकीली, चिकनी पीठ पर काले रंग के बड़े-बड़े चकत्ते थे। खुरों से ऊपर तक चारों पांव भी एकदम स्याह काले। किनमोड़े की कंटीली हरी पत्तियों को चबाती हुई वह दिन-भर मिमियाती रहती। शायद मां का सारा दूध दुह लिया जाता और उसके लिए कुछ भी बच नहीं पाता। घास भी भरपेट नहीं। तभी तो पीठ से पेट मिला रहता था! खूंटे-जैसे सींग निकल आए थे, पर किसी को मारती न थी। जिस खम्भे के सहारे बंधी रहती, उसे ही कभी सींग से खुरच लिया करती थी।

इसके साथ खेलने को कभी भी उसका मन न हुआ। जैसे घर की अन्य वस्तुएं पराई लगीं, ठीक उसी तरह यह बकरी भी। अतः दूर से ही देखकर रह जाता—अजीब-से विरक्त भाव से।

मां के प्रति भी अब कहीं उतना अपनापन नहीं रह गया था। कहीं दरार-सी पड़ गई थी—दूरी की। उसे लगता उसकी अपनी अन्य वस्तुओं

की तरह मां भी तो छिन गई है। रात को कभी नींद उचटती तो भय-सा लगता। बिछौने पर वह अपने को अकेला पाता, पता नहीं मां उठकर कहां चली जाती थी!

घर का कोई भी बच्चा उसके साथ खेलता न था। सब दूर-दूर से ही, अचरज से उसकी ओर देखा करते, जैसे वह कोई अजूबा हो।

इन अनजान, अपरिचितों के घर मे उसे क्यों ले लाई मां? यहां रहकर उसे क्या सुख मिलता होगा? इससे अच्छा था, अपना वही पुराना घर! कम-से-कम अपनापन तो था। मा प्यार तो कर लिया करती थी। काजु, घ्यौं के साथ खेलता हुआ वह अपने को कितना खुश अनुभव करता था! पड़ोस की बुढ़ि आमा कभी-कभी अपने पेड़ से तोडकर सन्तोले दे दिया करती थी•••

उसे लगता उसकी इन सारी परेशानियों का कारण मात्र वही व्यक्ति है, जिसने अपने भारी-भरकम बूटों से उसके नन्हे घरौंदों को कुचल दिया है। बिल्ली की-जैसी मूछों वाला यह व्यक्ति उसे कभी भी अच्छा नही लगा था। उसकी बकरी खाने के बाद तो बिलकुल भी नही!

इतना सब होने के बाद भी भरपेट खाने को नही!

"कल से काछा गाय-बकरियों को चराने जंगल ले जाएगा।" उसने एक दिन नड़कते हुए आदेश दे दिया था।

उसे गाय-बछियों को चराने से उतना भय न लगता, जितना वहां के भीषण, अंधेरे वनों से। कहते हैं, मेन्यिा बाघ हर रोज किसी का पशु उठाकर ले जाता है—दिन-दोपहर—सबके सामने।

सुबह मां ने विरोध किया। बाघ-भालू कहीं इसे ही उठाकर ले गए तो वह क्या करेगी? इस पर नये बाप ने मुंह फाड़कर हंसते हुए कह दिया था, "ले ही जाते तो क्या अच्छा नहीं रहता! इस करमजले का क्या करें? घिस-घिस कर चन्दन लगाएं, क्यों?"

अभी तीसरा दिन भी बीता न था कि सचमुच एक बाघ दुधारु गाय को उठाकर ले गया था। यह समाचार मिलते ही घर मे भूचाल आ गया था। हर कोई कांछा पर बरस रहा था, "सो गया होगा कानि का छोरा! तभी तो बाघ उठा ले गया। जागा होता तो शोरगुल न मचाता। आग

न जलाता। और तब जानवर डरकर भाग न जाता !"

रात को खेतों से लौटने के बाद नये बाप ने इतनी बेरहमी से मारा कि उसके नवनीत से सुकोमल, गोरे गालों पर पाचों अंगुलियों की छाप पड गई थी।

"हरामि का छोरा, अब और लापरवाही करेगा ?"

"न···ही···।"

रात को रूखी रोटी भी न देकर उसे गोठ मे -- पशुओं के साथ बन्द कर दिया था।

खाना खाकर जब सब सो गए, तो गाय-बछियों को घास डालने के बहाने मां नीचे उतरी। कांछा पयाल के ढेर के ऊपर गुमसुम-सा लेटा था।

"कां—छा—?"

"····।"

मां ने हाथ मे थमा धुंधला लालटेन ऊपर उठाकर देखा। काछा के मुरझाए चेहरे की ओर क्षण-भर देखती रही अपलक। बगल मे छिपाई दो सूखी रोटिया उसकी ओर बढाईं। उसके बर्फ-से ठण्डे माथे को प्यार से सहलाया, "तुझे सचमुच यहां अच्छा नही लगता रे···?"

"····।"

"अपने मामा के यहा जाना चाहता है ?···वहा भर पेट रोटी न भी मिलेगी, पर मार तो नही पड़ेगी···!"

"····।"

"तो चल, अपने गाव लौट चलें ? दो-चार खेते है रूखे, सिर छिपाने के लिए छानी। जैसे अब तक गुजारा चलता था, आगे भी चला लेंगे···"

"····।"

"अरे, तू रो रहा है काछी ?" उसके माथे पर अपना माथा टिका कर मा रो पडी—जोर से।

आठ

दो-ढाई महीने ही अभी बीते होंगे।

जाड़ा जा रहा था, पर सूरज वैसा ही ठण्डा था—बुझा हुआ। हवा भी वैसी ही सनसनाती हुई, छीलती। पर धीरे-धीरे पहाड़ों का रंग बदलने लगा था। बांज, खरसू, बुरांश के मोटे-मोटे खुरदरे पत्तों के स्थान पर अब फिर नई-नई कोपलें थीं। चारों ओर हल्की-हल्की हरियाली उभरती हुई।

मां एक दिन पशुओं के लिए घास काटकर लाने जंगल गई थी कि छिछली चट्टान पर बिछे चीड के घुसले पिरोल पर—पांव फिसला और वह घास के गट्ठर के साथ गठरी की तरह लुढकती-ढुलकती गहरी, अंधेरी घाटी मे समा गई थी—जहां छन-छन, मन-मन करती नदी बहती थी। ऊंचे-ऊंचे पहाड़ों मे घिरी पाताल-सी गहरी घाटी के ऊपर चीलें उड़ती तो डर लगता, कहीं गिर पड़ी तो !

दूसरे दिन किसी तरह गाव के लोग नीचे उतरे तो वहा क्षत-विक्षत अवशेष मिले। शव को ऊपर लाकर भी क्या करते ! अतः वहीं नदी के किनारे पर बह कर आई चीड की लकड़ियों के ढेर मे उसे जला दिया।

लोगों के साथ-साथ कांछा भी सबके पीछे-पीछे नीचे उतर आया था। अपनी मा का शव देखकर, वह फूट-फूटकर रोने लगा तो पास खड़े किसी व्यक्ति ने हाथ पकड़कर झिड़क दिया था—"कानि का छोरा—!" उपेक्षा मे गाली फेंककर आगे न रोने की चेतावनी भी दे दी थी।

कांछा दूर खड़ा सजल नेत्रो से देखता रहा—

मा के रक्त-रंजित, क्षत-विक्षत शव को सफेद कपड़े मे लपेटते हुए··· नदी के किनारे उठाकर ले जाते हुए···शव को पानी मे धोते हुए···लकड़ी के ढेर के बीच मां की लाश को रखते हुए···और अन्त मे धू-धू कर

जलते हुए।

दाह-क्रिया में ही सांझ हो गई थी।

नहा-धोकर सब घर की ओर बढने लगे तो उनके पीछे-पीछे उदास काछा भी चलने लगा—तीखी चढ़ाई में हांफता-कांपता हुआ। हताश। निराश।

सब अपने-अपने घरो मे चले गए, पर काछा देर तक बटिया पर ही खड़ा रहा—किंकर्त्तव्यविमूढ। किस के घर जाए ? कहा ? उसकी समझ मे नहीं आ रहा था। पत्थर के जिस मकान मे मा एक दिन उसे लाई थी, उसने कभी भी उसे घर नहीं माना। पर अब तो मां भी नहीं रही!

किसी वीरान घर के दालान पर वह बैठ गया। सारी रात घुटनों में सिर छिपाए, ठण्ड से ठिठुरता हुआ बैठा रहा।

नौ

सुबह उदो-उदो से पहले ही वह निकल पड़ा। सामने जो भी रास्ता दीखा, बढता चला गया।

भूखा-प्यासा! थका-मादा!

सारा दिन वह चलता रहा।

रात के अंधियारे मे जिस घर के कच्चे आंगन मे उसके पांव ठिठके, वह किसी हद तक परिचित था। पहले भी यहां रहा था। मां तब स्वयं पहुंचा गई थी···

उसे देखकर मामा का मन पसीज उठा, पर मामी का व्यवहार सहसा कटु हो आया, "यह बला भी हमारे ही गले अटकनी थी! अपने ही बच्चों को पालना कठिन है, उस पर यह मुसीबत !"

"अरे, गाय-डगर चरा देगा। घर का भी कुछ काम-काज कर देगा कभी! यह मुला-टुला अकेला कहां जाएगा ?···फिर यह भी तो सोच कि एक नौकर मिल गया मुफत का···।"

चौक में बैठे कांछा ने जैसे सुनकर भी कुछ सुना नही। उसकी बड़ी-बड़ी निरीह आंखों मे एक पूरा रेतीला टीला समा आया था। उससे चाहकर भी कुछ बोला नही जा रहा था। जड़वत् वह शून्य में ताक रहा था···

अपने हिस्से की बची-बचाई रोटियां या मुट्ठी-भर चिउड़े, एकाध तिल के लाडू मां छिपाकर उसकी फटी जेब मे डाल जाती थी। कभी-कभी चा का गरम पानी निगलने के लिए मिली गुड़ की गोली डली भी। रूखे सिर पर हाथ फेरती हुई कहती, "कैसे लम्बे-लम्बे बाल बना लिए है, शुप्पू के जैसे! चोटी पर गांठ तो पाड़ लिया कर! चोटी तब खुली रखते हैं पगले, जब मां-बाप मरते है। अभी तो मैं जिन्दा हू रे···!"

दोनो हथेलियों में मुंह छिपाकर वह न जाने कब तक बैठा रहा, गूंगे पशु की तरह···

मामा गाय-डंगरों के रहने के लिए एक नया खरक बना रहे थे—नई झोपड़ी। सारा दिन वह छत ढकने के लिए सूखी घास सारता रहा। चिरी, अधचिरी बल्लियां, तख्ते खींचता रहा, जिससे दोनों नन्ही-नन्ही हथेलियां छिल गई थीं। जगह-जगह फफोले उभर आए थे···।

एक दिन शाम को बटिया के किनारे वह आग जलाए बैठा था। डंगर इधर-उधर चर रहे थे। आसमान काले बादलो से भरा था। वर्षा के जैसे आसार थे। फुर-फुर ठण्डी हवा बह रही थी। तन पर लटके चीथड़े उड़ रहे थे। सर्दी से ठिठुरता हुआ, पहले वह आग सेंकता रहा। तन मे ताप न आया तो बांज के पत्ते की शुल्फई बनाकर उसमे तमाखू का बुरादा भर कर उसके ऊपर एक अंगारा रख दिया और नीचे से सांस लेता हुआ धुआं उगलने का प्रयास करने लगा।

थके-से कुछ राहगीर बटिया से जा रहे थे। खमाखम! जलती आग देखकर सहसा ठिठक पड़े, तमाखू पीने के लिए।

"कहां जा रहे हैं?" उसने जिज्ञासा से पूछा।

"दुउर···कालि गंगा पार···बरमदेव मण्डी···हिन्दुस्तानी राज मे···!"

"क्या करोगे वहां?"

दस

तेल्या, पुन्तरिगड, जंगार्या, लमभावर···

ज्यों-ज्यों वह आगे बढ़ रहा था, त्यों-त्यों कहीं बड़ा हल्कापन-सा लग रहा था उसे। जैसे बहुत बड़ी कैद से मुक्ति मिली हो—सांस लेने के लिए एक खुला हुआ अनन्त आसमान ! थकान के बावजूद भी वह अपने को बहुत हल्का अनुभव कर रहा था।

रास्ते में सभी बातें करते जा रहे थे—बहुत सुख है वहां ! मिहनत मजूरी के बाद भरपेट खाना। कपड़ा-लत्ता ही नहीं, ऊपर से तनखा भी। लौटने समय नून-तेल, कपड़ा-बर्तन-भाण्डे···!

हिन्दुस्तानी राज में अच्छी नौकरी मिल गई तो बूट-पट्टी···कोट-पतलून···खुखरी लटकाकर चउकीदारी···रात को सीटि-डण्डा, दिन को मउज-ममती···

सुनहरे सपने !

सुनहरी जिन्दगी !

सारे रास्ते भर चलते-उठते, बैठते-सोते उन्होंने कितने ही किस्से सुनाए थे—परिचितों के। अपरिचितों के। धरांसी का धरम बहादुर कैसे घर से भागकर गंगा पार हिन्दुस्तानी राज में गया था। तीन-चार साल बाद घर लौटा था—सिर से पांव तक एकदम लकदक। सिर पर नमदे का खाकी टोप, लम्बे बूट, कमर में चमड़े की चौड़ी पेटी, तांबे का आदमी के बराबर ऊंचा रोचा लाया था। चमचम कपड़े, चूड़ि-बिन्दा, फूलछाप लोहे का बड़ा बक्सा···

कल रात जोगबड़ा में सोते समय नरसिंह छेत्री बतलाता था—चार-पांच साल पहले डंडेलधूरा के बड़ा हाकम के साथ वह महेनदर नगर गया था—सामान ढोते हुए। वहां डिट्ठा के यहां खूब भात मिला था। रोटी मिली थी। दो बखत चीनी की चा। बीड़ी। पूरे दस दिन रहा था। बड़े

"कुल्ली, मजदुरी, नउकरी ।"

"मेरे को भी कुल्ली, मजदुरी मिलेगा···?" कुछ अतिरिक्त उत्साह से वह बोला।

वह अभी कह ही रहा था कि सब एकाएक हंस पड़े, "तू करेगा कुल्लि-गिरी ? घुघता साल्ला···"

वह अबोधभाव से उनके हसते चेहरे ताकता रहा।

"यही मजूरि क्यो नही करता ?" गोल दायरे मे आग के किनारे बैठे तरुण ने सहानुभूति से पूछा।

अपने छोटे से हाथ नचाता हुआ वह बोला, "यहा कहा नउकरि-चाकरि ?··· दिन-रात काम-वाम ! उस पर मामी रोटि नही देती···।" वह रुआसा हो आया।

"आमा नही—?"

"ना···"

"बाज्या-बाप···?"

"नहि।"

"भाई-बहन ?"

उसने सिर हिलाकर 'नही' कहा।

अन्तिम सिरे पर बैठे अधेड़-से व्यक्ति ने सहानुभूति मे देखा, "चल सकेगा, उतनी दूर ?"

"हुआऽ।" उसने उत्साह से कहा। उसके कहने मे बड़ा आत्मविश्वास था।

"हमारे साथ चलेगा तो मेरा मामा मारेगा नही ···?"

"नहिऽ।"

"तो चल फिर···!" कुछ देर सुस्ताने के पश्चात् वे चलने लगे तो वह भी वैसा ही पीछे-पीछे हो लिया। गाय-डंगरों की तरफ उसने एक बार मुड़कर भी देखा नही।

दस

तेल्या, पुन्तरिगढ़, जंगार्या, लमभावर…

ज्यों-ज्यों वह आगे बढ़ रहा था, त्यों-त्यों कहीं बड़ा हल्कापन-सा लग रहा था उसे। जैसे बहुत बड़ी कैद से मुक्ति मिली हो—सास लेने के लिए एक खुला हुआ अनन्त आसमान! थकान के बावजूद भी वह अपने को बहुत हल्का अनुभव कर रहा था।

रास्ते में सभी बातें करते जा रहे थे—बहुत सुख है वहां! मिहनत मजूरी के बाद भरपेट खाना। कपड़ा-लत्ता ही नहीं, ऊपर से तनखा भी। लौटते समय नून-तेल, कपड़ा-बर्तन-भाण्डे…!

हिन्दुस्तानी राज मे अच्छी नौकरी मिल गई तो बूट-पट्टी…कोट-पतलून…खुखरी लटकाकर चउकीदारी…रात को सीटि-डण्डा, दिन को मउज-ममती…

सुनहरे सपने!

सुनहरी जिन्दगी!

सारे रास्ते भर चलते-उठते, बैठते-सोते उन्होने कितने ही किस्से सुनाए थे—परिचितों के। अपरिचितों के। धरांसी का धरम बहादुर कैसे घर से भागकर गंगा पार हिन्दुस्तानी राज में गया था। तीन-चार साल बाद घर लौटा था—सिर से पांव तक एकदम लकदक। सिर पर नमदे का खाकी टोप, लम्बे बूंट, कमर मे चमड़े की चौड़ी पेटी, ताबें का आदमी के बराबर ऊंचा रोचा लाया था। चमचम कपड़े, चूड़ि-बिन्दा, फूलछाप लोहे का बड़ा बक्सा…

कल रात जोगबड़ा में सोते समय नरसिंह छैंत्री बतलाता था—चार-पांच साल पहले डंडेलधूरा के बड़ा हाकम के साथ वह महेनदर नगर गया था—सामान ढोते हुए। वहां डिट्ठा के यहां खूब भात मिला था। रोटी मिली थी। दो बखत चीनी की चा। बीड़ी। पूरे दस दिन रहा था। बड़े

मजे थे वहा। गुड़ भी खाने को मिल जाता था···बड़ा हाकिम के साथ लौटना न होता तो वही रहता···

एक अनोखा संसार लग रहा था उसे स्वप्नमय! महेन्द्रनगर देखकर तो आंखें खुल आई थी। भय लगा था। बड़ा बाजार। अफसर-हाकम। दहशत-सी हुई थी। सड़कों पर इत्ती सारी भीड़! ये लोग कहा जा रहे होंगे!

महेन्द्र नगर से आगे—

इतना लम्बा, पक्का पुल उसने जिन्दगी मे पहले कभी भी नही देखा था। वनबसा, खटीमा, चकरपुर। लोहे की गाड़ी! मोटर-टरक। दो पहिए वाली, सड़क पर भागने वाली लोहे की घोड़ी।

दो-तीन साथी महेन्द्रनगर मे ही रह गए थे—किसी के फारम मे। कुछ टनकपुर मण्डी की तरफ चल दिए थे। एक वनबसा मे लकड़ी के टाल पर···जबर बहादुर के साथ काछा आगे बढ़ा, काम की तलाश मे।

ग्यारह

"अए, डोटियाल दाइ, नौकरी करेगा?" खटीमा बाज़ार मे अभी प्रवेश ही किया था कि नुक्कड़ की दुकान पर पाल्थी मारे बैठा मोटा-सा हलवाई बेरुखी से बोला।

उसने मुड़कर देखा—

मिठाइयों के ढेर के बीच बैठा लाला उसे बड़ा सौभाग्यशाली लगा। इत्ती बड़ी दुकान! ढेर सारी रंग-बिरंगी मिठाइया। मोटा-ताजा। खाता-पीता। तोंद कुछ-कुछ आगे की ओर निकली हुई। ऊपर बांहकटी पहने है। दोनों आंखों पर गोल-गोल दो दरपन के जैसे टुकड़े···

"करेगा, लालाजि, करएगा···।" जबरबहादुर हाथ जोड़ता हुआ, विनम्र भाव से समीप आया था। दुकान के आगे त्रिपाल का पुराना चीथड़ा टंगा था, स्लेटी रंग का, फटा हुआ—रस्सियों के सहारे हवा में

झूलता हुआ। वे दोनों उसके नीचे तक बढ़ आए।

"बोल, क्या लेगा ?"

"जो मजदुरी लालाजि देगा, लेइ लेगा।" दोनों हाथों को परस्पर मलते हुए, उसने दीन-भाव से झुककर कहा।

कसाई जैसे बकरे खरीदता है, लाला भी लगभग वैसी ही उपयोगिता की दृष्टि से उन दोनों को तोलता रहा। कुछ सोचता हुआ बोला, "बड़े को नहीं रखेगा। छोटा ठीक है। दूकान में पानी भरेगा ! बर्तन-सर्तन साफ करेगा ?"

प्रत्युत्तर में सहसा दोनों कुछ न बोले तो लाला ने तनिक ऊंचे स्वर में कहा, "क्यों रे, करेगा कि नहीं ?"

"करेगा, लालाजि, जरुर करेगा···।" जबरबहादुर ने उत्तर दिया, "यह छोरा गरीब है। आमा-बा कोई नहीं···।" फिर मुड़कर कांछा की ओर देखा, "क्यों कांछा, लाला की नउकरी करेगा ?"

कांछा ने मौन स्वीकृति में सिर हिलाया।

"क्या लेगा महीना भर का ?" लाला ने पूछा।

"जो माई-बाप देगा, हजुर लेइ लेगा !" जबरबहादुर ने उत्तर दिया।

"नकद चार रुपिया महीना देगा। खाना-पीना देगा। कपड़ा-लत्ता देगा। चाय-साय, बड़ी-सीड़ी सब देगा।" लाला जितना-जितना कहता जा रहा था, कृतज्ञता के भार से दोनों झुकते जा रहे थे।

"क्या नाम है दाइ तेरा ?" लाला को जैसे कुछ याद आया।

"कांछा।"

"काछा ?" लाला अपना पोला मुंह फुलाता हुआ जोर से हस पड़ा, "यह क्या होता है ?"

"नाम है हजुर···।" जबरबहादुर ने कहा।

"तो अब खड़ा क्यों है ? काम पर लग जा अभी से। नौकरी पक्की···।" लाला ने सामने रखी रीती बाल्टी की ओर इंगित किया, "इसे बाहर कमेटी के नल पर लगा दे। भर जाए तो उठा देना।" उसकी ओर देखते हुए तनिक रुककर कहा, "उठा सकेगा ?"

कांछा उसकी भाषा अधिक समझ न पाया। फिर भी इतना तो

पल्ले पड़ हो गया कि लाला बाल्टी भरने का आदेश दे रहा है।

लाला को जैसे कुछ स्मरण हो आया। तनिक पसीजता हुआ बोला, "छोकरे, पूरी नही उठा पाएगा। इसलिए आधी-चौथाई ही लाना, समझे !" 'समझ' पर जितना अधिक ज़ोर था, उससे अधिक सहानुभूति !

"लालाजि, यह गरीब है···अब आप हि माइ-बाप हो···!" हाथ जोड़ता हुआ जबरबहादुर बोला, "जैसे तुम रखेगा, यह रहेगा···।"

"अरे, हम कौन कह रहे हैं कि यह अमीर है। तुम फिकर मत करो। छोकरा अपने घर की तरह रहेगा···हां, चोरी-चकारी तो नही करेगा ?"

"न्ना, न्नां सेठजि ऽ। ऐसा नही। छोरा इमानदार है। चोरि नहिं करेगा। तुम तो माई-बाप हो। चोरि करेगा ता परलोक नही बिगडेगा। नर्ग मे नही जाएगा !" हाथ जोड़कर जबरबहादुर ने उत्तर दिया।

"तुम क्या करेगा ?"

"नउकरी-सौंकरी करेगा—कुल्लिगिरि···!" हाथ जोड़कर वह चला गया।

काछा का सारा दिन जूठे बर्तन माजने, जूठी पत्तलें उठाने मे ही बीत जाता। लाला ने अपनी उतारी हुई फटी कमीज दे दी थी—जिसके अन्दर तीन व्यक्ति आसानी से समा सकते थे। सामने 'शर्मा रेडीमेड वस्त्र भण्डार' से नीली जीन की एक हल्की-सी जांघिया खरीद दी थी।

एक नौकर और था, इससे कुछ बड़ा, जो लाला के बगीचे वाले घर मे ही रहता था अब। एक दिन काछा घर से लाला के लिए दिन का भोजन ला रहा था, तो शरारत से उसके कान के पास मुह ले जाकर बोला, "लाला अच्छा आदमी नहिं। बीबी को ससुराल मे ही छोड़ रखा है ··।" वह अपने आप हंस पड़ा था।

जिस दिन रात को लाला अधिक देसी पी लेता, दुकान पर ही सो जाया करता था।

इस चमक-दमक के बीच काछा के अबोध मन मे कहीं विरक्ति का भाव भर रहा था—वितृष्णा का। ऐसा सब क्या है ? क्यों ?—उस अबोध की समझ मे नहीं आता था।

बारह

सारी रात पानी बरसता रहा था। [जग लगी पुराने टीन की टूटी छत जगह-जगह से टपकती रही। जिस कारण काछा सो न पाया था। सुबह जैसे ही आंख लगी कि किसी ने ज़ोर-ज़ोर से किवाड भडभड़ाए। अचकचाकर जागा वह। देखा—चौखानेदार तहमद और बनियान पहने सामने चट्टान की तरह लाला खड़ा है. बाएं हाथ में काली छतरी थामे पानी से तर! लाल-लाल आंखों से घूर रहा है।

आंखें मलता हुआ वह अभी देख ही रहा था कि लाला ने आव देखा न ताव। तड़ाक् से एक चांटा उसके गाल पर लगा दिया, "बतासे की औलाद, तू अब तक सो रिया है! दिन कब का निकल आया! बस के सारे पिसिनजर आज हाथ से निकल जाएंगे। ध्याड़ी मारी गई···!"

कांछा भौचक-सा गाल मलता रहा, "बाबू साब, ऊपर में पानी आता रहा—अइसे ऽ! अइसे ऽ।" छोटे-से हाथ नचा-नचाकर वह बतला ही रहा था कि लाला ने दूसरा चाटा जड दिया, "पानी के बच्चे, अब बहाना बनाना भी सीख गया है!"

चाटा इतनी ज़ोर का लगा कि उसका माथा झनझना आया। नन्हे से नंगे पाव थर-थर कापने लगे। आंखों के आगे अंधेरा।

अपने दोनों हाथ जोड़ता हुआ, क्षमा-याचना के स्वर में बोला, "परमु, गल्ती होइ गिया। मांफी···परमु!" उसका कम्पित स्वर लड़खड़ा आया।

"सूरज छत पर चढ आया। टेसन की चा की सारी दुकानें कब से खुल गईं। आज की सारी गाहकी तेरी मां की···।"

लाला ने मुठिया के पास ही बटन दबाकर, झप्प्-से गीली छतरी बंद कर दी। पतली नुकीली नोक की तरफ से, किवाड के सहारे उल्टी खड़ी कर दी, "सूअर की औलाद, देखता क्या है मेरा मुंह! जा, जल्दी-जल्दी

दरवज्जे खोल। बुहारी लगा…।"

अभी वह सिरकी से सडाक्-सड़ाक् झाड़ू लगाकर धूल उड़ा ही रहा था कि खादी के मैले झाड़न से तराजू और बट्टों पर जमी धूल झाड़ते हुए लाला ने कहा, "बछिया के ताऊ, जल्दी-जल्दी हाथ चला…अच्छा, छोड़ इसे। बाद में आंगन पै बुहारी लगइयो, पैले अंगीठी सुलगा। कौले डाल…।'

कांछा ने रोज की तरह पहले अंगीठी में लकड़ी की छोटी-छोटी गिट्टियां लगाईं। फिर उसके ऊपर पत्थर के टूटे कोयले। पर आग थी कि आज जलने का नाम ही नहीं ले रही थी। गीली लकडियों से केवल धुआं उमड़कर रह जाता। अंगीठी के पास बार-बार मुंह ले जाकर फूंक मारने से आंखें लाल हो गई थीं। उनसे पानी बह रहा था। मैली, फटी आस्तीन से लगातार आंखें पोंछता हुआ, वह बहती नाक सुड़क रहा था।

लाला गुल्लख के पास, गद्दी पर बैठा, देर तक यह तमाशा देखता रहा—भीतर-ही-भीतर सुलगता रहा। तभी एकाएक पता नहीं क्या क्रोध चढा उसे। बिदके सांड की तरह उछलता हुआ कूदा। अंगीठी पर लात जमाकर उसकी ओर मुड़ा। दो हाथ उसके लगाकर, पिल्ले की तरह कान घसीटता हुआ, सड़क के उस पार तक छोड़ आया, "ससुरा, कम-जात! खावे हैं किल्लो-किल्लो भात भकर भकर! काम के नाम पर जे हाल! अंगीठी भी सुसरे को जलानी नां आवे हैं!…निकल्जा… निकल्जा साले! अब इधर फटका तो हरामजादे की दोनों टांगें तोड़ दूंगा…!"

आसपास की दुकानों के लोग, सड़क पर चलते सभी मुसाफिर इकट्ठा हो गए थे—लाला हरदुआरी लाला का तमाशा देखने के लिए।

तहमद की लांग ऊपर बांधकर लाला स्वयं अंगीठी सुलगाने में जुट गया, गालियां बकता हुआ।

सड़क के दूसरे किनारे पर, बगीची की दीवार के पास, अमियां के बूढ़े पेड़ के तले, पत्थर पर बैठा कांछा कुछ देर तक सिसक-सिसककर रोता रहा। बारिश की बौछारें जैसे ही फिर तेज हुईं, वह पेड़ से सटकर

खड़ा हो गया। पानी की मोटी-मोटी लकीरें शाखाओं से सरककर तने को भिगोने लगी तो वह दौड़ता हुआ टेसन की ओर मुड़ा। प्लेटफार्म के नीचे खड़ा होकर भय से चारों ओर देखने लगा—

तेरह

प्लेटफार्म के किनारे, समतल ज़मीन पर, दूर तक लोहे की दुहरी पटरियां बिछी है। उनके दोनों किनारों पर पत्थर की छोटी-छोटी गिट्टिया बिछी हैं—धूल, राख और कोयले के कारण एकदम काली लग रही है। बहुत से कुल्लि अपने कन्धों पर चिरी हुई लकड़ी के शहतीर उठाए, पटरी पर रखे लोहे के खुले डिब्बों में चढा रहे हैं—नीचे बल्लियों का खड़ा पुल-सा बना रखा है, ज़मीन से डिब्बे तक चढ़ने के लिए। दूसरी ओर की पटरी पर भी कुछ खुले डिब्बे है, जिनमे मजदूर गोल-गोल, बड़े-बड़े सफेद चिकने पत्थर भर रहे हैं। ऐसे पत्थर तो नदी के किनारे-किनारे कितने बिखरे रहते हैं, कोई पूछता तक नही। फिर इन्हे इस तरह कहा ले जा रहे होंगे? क्या करेंगे इनसे?···दाहिनी तरफ लकड़ियां-ही-लकड़िया! तरकीब से, अलग-अलग चट्टे बने है। जंगल में तो ऐसी कितनी लकड़ी पड़ी रहती हैं।···एक मरियल-सा कुत्ता कूड़े के ढेर में से पत्तलें नोच रहा है··· बरखा के पानी में भीगे कुछ मजदूर सिर छिपाने के लिए, दौड़ते-हाफते उस ओर आ रहे हैं, जहां वह बैठा है···

शाम तक वैसा ही भूखा-प्यासा वह बैठा रहा। जब-जब उसे अधिक भूख लगती, मां की याद आ जाती। मां खुद भूखी रहकर भी उसके लिए आले में रोटी छिपाकर रखती थी। रोटी न हो तो मकई होती। ककड़ी मूली, दाड़िम-अखोड़—पता नही कहा-कहां से मागकर, बटोरकर उसके लिए रखती थी। जब से जेठा दाइ मरा उसके प्रति मां की ममता और भी अधिक बढ़ आई थी। लोग कहते, उसका बड़ा भाई बीमारी से मरा था, पर मां का कहना था कि वह भूख से मरा

था। बीमारी से ठीक होने के बाद पथ्य में देने के लिए उसके पास दो दाने चावल के भी न थे। उसने चुपके से पता नहीं क्या खा लिया था, जिससे उसी रात उसकी मृत्यु हो गई थी…

बारिश अब बन्द हो गई थी। तापहीन धूप का टुकड़ा, फटी चादर की तरह मटमैली धरती पर बिछा था। बादल अभी तक छाए हुए थे आसमान पर। पहले वह देर तक प्लेटफार्म पर ही इधर-उधर भटकता रहा। पांव थक गए तो प्लेटफार्म की छत में लगे लोहे के गोल खम्भे के सहारे खड़ा हो गया। फिर बैठ गया। बैठे-बैठे पता नहीं कितना समय बीता! उसकी पथराई पलकें मुंदने लगी तो बित्ते-भर की जगह पर, कपड़े की गीली पोटली की तरह मुड़ा-तुड़ा वह सिमटकर सो गया। देर तक सोया रहा।

तभी किसी ने डण्डे से कोंचा तो वह हड़बड़ाकर जागा। देखा— सामने लम्बा-चौड़ा आदमी खड़ा है—बूट-पट्टी कसा हुआ, "हियां क्या कर रिया रे, जिनावरऽ!"

आंखें मलता वह देखता रहा।

"देखता किया है? उठ्ठ हिया से!" उसने डण्डे को हल्के से ऊपर-नीचे हिलाते हुए कहा, "चोर-उचक्के सभी कमजातों के लिए यही जगै है…।"

"…।"

"उठ्-उठ्।" डण्डे की नोक से कोंचकर उठाने लगा तो वह डरे हुए कुत्ते की तरह चुपचाप बाहर निकल गया।

बत्तियां जल चुकी थी। पीलीभीत की तरफ से आने वाली गाड़ी की प्रतीक्षा में बेंच पर बैठा फौज का एक जवान यह सब देख रहा था। पुलिस का सिपाही चला गया, तब भी वह लड़का प्लेटफार्म के बाहर, नीम के पेड़ के नीचे वैसा ही बैठा रहा। उसके सामने ही बरखा के पानी के कारण हथेली के बराबर नन्ही-सी तलैया बन गई थी—जिसमें फुर्र-फुर्र चिड़ियां नहा रही थीं।

बादल घिर-घिर रहे थे।

ज्यों ही फुहारें शुरू हुईं, वह थर-थर कांपता फिर प्लेटफार्म की छत

की शरण में आ टिका—भय से, आशंका से इधर-उधर झांकता हुआ कि कहीं बूट-पट्टी वाला डण्डा उठाए फिर न आ धमके !

"ऐ डोटियाल दाइ···ऽ !" सैनिक ने न जाने क्यां सोचकर उसे आवाज़ दी।

अंगुली का इशारा देखते ही वह सहमा-सा, सिमटा-सा पास आ गया। अरे, इसके भी वैसी ही बूट-पट्टी !

"बैठ जा···।"

कांछा सिमेण्ट के ठण्डे फर्श पर वैसा ही सकुचाया-सा बैठने लगा तो, "नहीं, नहीं, ऊपर बैठ," कहते हुए सैनिक ने बेंच पर ही बैठने का इंगित किया।

वह और भी सकुचाया और लोहे की बेंच के दूसरे सिरे पर थोड़ी-सी जगह में समाकर बैठ गया।

"कहां का रहने वाला है ?"

कांछा की समझ में न आया।

"मैं पूछता हूं, घर कहां है तेरा ?" सैनिक ने कुछ ऊंचे स्वर में पूछा।

"डोटि—नइपाल।"

"कहां—?"

"हरेनीपुरा के पास···गहरडोटी से आगे···।"

"यहां कैसे आया ?"

"नउकरी-चाकरी···कुल्लि-मजदुरी···!"

"कहां करता है नौकरी ?"

वह मौन देखता रहा।

"अरे, मैं पूछता हूं, नौकरी किसकी दुकान में करता है ?"

"लाल्ला की···।"

"फिर यहां क्या कर रहा है ?"

"लाल्ला निकाल दिया···।"

"क्यों निकाल दिया ?"

"····"

"नौकरी करेगा ?"

उसने स्वीकृति में सिर हिला दिया।

"पहाड़ चलेगा, हमारे गांव—?"

उसने उसी तरह फिर सिर हिलाया—"हां।"

"कितना रुपया लेगा महीना का, बोल ?"

कोई उत्तर न दे पाया वह।

तनिक सोचते हुए सैनिक ने कहा, "हमारे साथ गांव चल। वहीं रहेगा। खाना-पीना, कपड़ा-लत्ता, बीड़ी-तमाखू सब मिलेगा। तनखा ऊपर से।"

अभी तक उसी अबोध मुद्रा में बैठा वह देखता रहा।

"रोटी खाई—?"

उसने मात्र सिर हिला दिया, "नहीं।"

"खाएगा ?"

"हांऽ।"

सामने खड़ी रेढ़ी से कुछ पूरियां और सब्जी ला, पत्तल उसके सामने रख दिया।

आलू की सब्जी और गरम-गरम पूरियां देखकर उसकी भूख और बढ़ आई। अपने दोनों हाथों से बड़े-बड़े ग्रास तोड़ता हुआ वह खपाखप खाने लगा। जैसे महीनों से अन्न का दाना देखा ही न हो।

खाना खा चुकने के बाद वह मालू के फटे पत्तल पर लगी सब्जी चाटने लगा—चट्-चट् लम्बी जीभ निकालकर।

"और लेगा क्या ?"

"न्ना···।"

"तो जा, सिमेण्ट के चबूतरे के भीतर वह नलका लगा है, पानी पी आ···।"

लौटा तो उसके मुरझाए मुखड़े पर सन्तोष का अपरिमित भाव था।

"बीड़ी खाएगा···?" सैनिक ने एक बीड़ी उसकी ओर फेंकी।

चौदह

जैसे अपने गांव वह फिर पहुंच गया हो। यहां आकर उसे वैसा ही लगा। वैसे ही ऊंचे-ऊंचे पहाड़—बर्फ से ढके। वैसे ही पत्थर, वैसे ही देवदार, चीड़-बांज, बुरोंज, खरसू के पेड़, फंइयां की पूरी डाल पर बिछी फूलों की चादर। रामबांस, कुइयां, धिंगारू, किनमोड़े, दाडिम, अखोड—सब कुछ वैसा ही।

मैदान की अपेक्षा एकदम सर्दी। फर्-फर् ठण्डी हवा चल रही थी। धीरे-धीरे कंपकंपी-सी लगने लगी उसे। ठण्ड से शरीर पर कांटे-से उभर आए थे। जब-जब ऐसा होता है, उसे सहसा मां की याद आती है। उसके ठिठुरते हुए, कांपते हाथों को, अपनी खुरदरी, रक्तहीन हथेलियों से सहलाती हुई चिन्तित स्वर में अक्सर कहती थी, "काछ, तू इतना दुबला-पतला है कमज़ोर···इस निठोर दुनिया में तू कैसे जिएगा रे···?" मां का आर्द्र स्वर कंपकंपाने लगता।···उसकी काली-काली निरीह आखों के आगे धुआं-सा छाने लगा। एक क्षण कुछ सोचता हुआ वह मुडा और झटके से सिर हिलाता हुआ आंगन में आ गया।

अब तक पांव सही ढंग से ज़मीन पर नहीं पड रहे थे। सिर चकरा रहा था, रिंगाई-जैसी आ रही थी। लोहे के बड़े-बड़े कमरे-जैसे डिब्बे—एक दूसरे से जुड़े-खड़खड़ाते हुए आगे सरकते, वैसा ही अजूबा मोटर-गाड़ी सड़क पर धूल उड़ाती हुई···खटीमा आकर उसने इन्हें दूर से ही देखा था बहुत बार···डरते-डरते छुआ भी था एक बार, पर बैठने की हिम्मत नहीं हुई थी···इस बार जब बैठा तो धरती से लगे-लगे, उडने का जैसा अहसास हुआ था···

घुमावदार ऊबड़-खावड़ मोडों पर गाडी मुड़ती तो वह झप्प्-से आंखें मूंद लेता। कहीं गाड़ी नीचे खड्ड में गिर पड़ी तो! उसका रोम-रोम कांप उठता।

देवदार के पडो के पास एक समतल-सी जगह पर गाडी रुकी। कुछ लोग उतरे तो उनके साथ-साथ वे दोनों भी नीचे उतर पड़े थे।

धूल से अटे किसी आदमी ने गाडी के पीछे लगी लोहे की छोटी-छोटी सीढ़ियां चढकर सामान नीचे उतार दिया था।

गाडी धूल उडाती हुई फिर आगे चल पडी तो वहा पर वे ही दो लोग रह गए थे।

उसके सिर पर छोटी-सी टिन की बक्सी, और अपने कन्धे पर खाकी किरमिच के गोल, लम्बे थैले को रखकर वह मिलिट्री के बूटों से बजरी रगड़ता हुआ आगे बढने लगा था।

"कब आए भौंना ?" किसी बुजुर्ग ने कहा तो "पैलांग" कहते हुए उसने गरदन किंचित् नीचे झुकाई थी।

"मल्ले घर का भवानसिंह सिपाही घर आया है।" चारो ओर यही चर्चा शुरू हो गई थी। अपने घरो के आगन की तीर पर खड़े लोग जिज्ञासा से, किस तरह से देखने लगे थे—उसे आता हुआ!

"ले, तेरे लिए इस बार एक नन्हा-सा नौकर ले आया हूं—हाथ बंटाने के लिए!" कन्धे का सामान नीचे उतारते हुए भवानसिंह ने कहा था।

सामने खड़ी औरत हस पड़ी थी, "नौकर कहा, यह तो नौकर की पोथि है—छोटा-सा छौंना। किस घौंसले से उठा लाए···?"

"अरे, जैसा भी है, है तो आदमी का ही बच्चा! कुछ तो हाथ बंटाएगा। घर में तू अकेली रहता थी न! अब यह साथ हो गया···।"

औरत और जोर से हंस पडी थी, "इस बच्चे का साथ? हां, उठा कहां से लाए?"

"खटीमा टेसन पर भूखा पडा था, उठा लाया।" यह सब सुनकर वह संकोच मे और सिकुड आया था!

"अरे, खड़ा क्यों है? बैठ! बैठ!" महिला ने तनिक सहानुभूति से कहा था।

वह वैसा ही, वहीं पर चुपचाप बैठ गया था।

"क्या नाम है तेरा?"

"काछा।"

"कानछा ?" वह हँस पड़ी थी।

"..."

"ले, ये चा का गिलास धो ला...।" कुछ रुककर उसने कहा था, "फिर तू भी कटकी लगा लेना ! ठण्ड लग रही होगी...कोई बनीन-सनीन नहीं, पहनने के लिए ? ऐसे तो तू मर जाएगा...।"

कुछ ही पल बाद, इस अपरिचित घर में उसका एक अनाम-सा रिश्ता जुड़ गया था—काका, काकी का !

काकी और उसकी दिवगता मा की आकृति मे कितना साम्य था ! वैसे ही चलनी, बोलती भी ठीक वैसे ही थी।

दो महीने की छुट्टी बिताकर भवानसिंह जब पलटन में लौट गया तो पूरे घर में वे ही दो प्राणी रह गए थे। ऊपर की मजिल मे वे रहते और नीचे गोठ में गाय-बछिया...

काकी अपने बच्चे की तरह ही उसे सुलाती, खिलाती-पिलाती उसका ध्यान रखती थी। उसके लिए लोघाट के बाजार से वहीं के मोचियों का बनाया, सिलपट का एक छोटा जूता उसने मगा दिया था। मोटे भोटिया ऊन की एक बनीन भी स्वयं बुन दी थी—हल्दी रंग की, जिसे पहने वह हवा मे उड़ता रहता था।

इतनी उम्र होने के बावजूद काकी के कोई बच्चा नहीं था, शायद इसीलिए बच्चों के प्रति इतनी ममता थी !

दसें के मेले में गांव के प्रायः सभी कौतिकिया लोग गए तो काकी के साथ जिद करके वह भी चला गया था—रंगीन बनीन और गबरून का पैंजामा झपकाए।

भैयादूज के मौके पर काकी मैके जाने की तैयारी करने लगी तो चुपके से उसने भी अपने बालों मे तेल चुपड़ लिया, "...मैं भी चलूंगा काकी !"

"गाय-बछिया को पानी कौन पिलाएगा ? घास कौन डालेगा ?"

"तल्ले घर वाली कानि आमा डाल देगी ! जब वह अपनी बेटी के घर गई थी गहतोड़ा, तब हमने ही उसके ढोर-डंगरों की कित्ती देखभाल

की थी…!" काकी के चेहरे पर उभरते भावो को वह अपनी ऊपर उठी निरीह आंखो से परखने लगा। दाए हाथ की अंगुलियों को पकड़कर झूलता हुआ बोला, "यहा अकेले मुझे डर नही लगेगा…?"

काकी मना न कर सकी अब।

टाट के झोले में काकी ने अपने दो-तीन कपड़े डाले तो उसने झोला कन्धे पर उठा लिया, "नहिं मैं पकड़ूंगा!"

"तो मैं हाथ मे क्या ले जाऊं…?"

"खाली चलो—मेरे साथ। बड़े लोग सामान थोड़े ही उठाते है…!"

उसकी अबोध आकृति की ओर ताकती हुई काकी हंस पड़ी, "बहुत सयाना हो गया है, जल्दी…! कही लकड़ी के ठेकेदारो के साथ टनकपुर मण्डी की तरफ न भाग जाना…।"

"तुझे छोडकर कही नही जाऊंगा काकी।" अपने दोनो नन्हे हाथों से उसने काकी के पांवों को जोर से जकड लिया था।

पन्द्रह

यहा आकर कांछा सबके लिए विशेष आकर्षण का केन्द्र बन गया। बड़ा हंसमुख! बड़ा चटपट। नेपाली-डोटियाली के साथ जल्दी ही उसने पहाड़ी बोली भी सीख ली थी!

सबसे जल्दी ही घुल-मिल गया था वह। काका-काकी, मामा-मामी के रिश्ते यहां भी जोड़ लिए थे उसने।

यहा गाय-भैंसो से भरा गोठ देखकर बहुत अधिक प्रसन्न हो उठा था वह। एक कोने पर मिमियाती बकरियां थीं—छेलि, हेल्वान, पाठिया! हेल्वानों से ठेप देता हुआ वह, माथा भिड़ाकर सींग लड़ाता। "ले-ल्हेऽ" कहता हुआ कभी उनके माथे पर अपने खुले पंजे से प्रहार करता—अपने दोनों पांव दीवार से जमाकर।…बकरी की एक छोटी-सी पाठी, चीतल के जैसे रंगवाली, को वह गोदी में उठा लेता। जब तक कि

मिमियाती हुई, वह उछलकर नीचे से कूद न जाती, छोड़ता न था···।

झुण्ड-का-झुण्ड हांकता हुआ जंगल ले जाता, और सांझ गए से पहले लौटता न था घर।

कुछ दिन वहां रहकर जब वे लौटने लगे तो हिचकते-हिचकते काकी से बोला, "इस पाठी को हम अपने साथ घर ले जाए काकी? वहां पानी के नौले के पास खूब हरी-भरी घास होती है। वही चराएंगे···।"

काकी के वृद्ध पिता नारियल की काली चिलम की मूठ दोनों हाथों में पकड़े, दरवाज़े के पास बैठे, खांसते हुए धुआं उगल रहे थे। बोले, "अरे, ले जा रे भव्वा···ले जा···हां, ध्यान रखना, कहीं लोमडी-सियार न उठा कर ले जाएं···!"

"नां-नां" कहती हुई भी अन्त में काकी उसे उठा ही लाई, "कांछा दिन भर खाली रहता है। इसे ही चराएगा ···।"

सोलह

साल-भर से अधिक अर्सा बीत गया था, परन्तु भवानसिंह इस बार पलटन से सालाना छुट्टियों में गांव न आ पाया था। पहले उसकी चिट्ठी आई थी। लिखा था—चैत में आएगा। फिर जेठ में आने को लिखा और अब सावन बीत रहा था···

एक दिन शाम को खीमानन्द के आंगन में, तल्ले घर, मल्ले घर के तमाम लोग बैठे तमाखू पी रहे थे। करमसिंह मारा के बेटे हयातसिंह की पलटन से चिट्ठी आई थी। लिखा था—हमारे भवान'दा का अपने किसी साथी सिपाही से झगड़ा हो गया था। रात को उसे न जाने क्या सूझा? अपने सोए हुए उसी साथी को उसने गोली से उड़ा दिया। अब पलटन की हौलात में है। कहते हैं, उसे फांसी होगी या उमर कैद।

हयातसिंह भवानसिंह की ही बटालियन में था।

लोगों का कहना था—शायद सिर फिर गया हो बेचारे का! कुछों

का सोचना था कि विधवा भाभी ने जो घात डाली थी, सम्भवत: उसी का प्रभाव हो। झक्की तो वह बचपन में ही था, पर ऐसा गैरजिम्मेदाराना काम भी करेगा—कोई सोच नहीं सकता था। पिछली लड़ाई में उसे सरकार की ओर से इनाम भी मिला था···।

काकी ने सुना तो उसकी आखें खुली-की-खुली रह गईं। अब क्या होगा? कैसे? समझ में न आ पा रहा था।

मैके जाकर उसने चिट्ठी लिखवाई, पर उसका भी कोई उत्तर मिल न पाया था···!

फौज से पैसे आने भी अब बन्द हो गए थे, जिससे गुजारा चलाना और भी कठिन हो चला था। वक्त-बेवक्त मां कुछ भेजती रहती थी, अन्यथा चूल्हा जलाना भी कठिन हो जाता···

काकी का बुझा-बुझा चेहरा अब उसे वैसा ही लगता, जैसा उसके पिता के घर न लौटने पर मां का लगा था। दिन-रात आखें झरती रहतीं··।

जाडों के बाद फिर जाडों का मौसम शुरू हो रहा था। काकी की ग्यांलि गय्या बिक गई थी। एक दिन कोई बछिया भी हांककर ले गया था। नाम मात्र के गहने-पत्ते पहले ही गिरवी रखे जा चुके थे। काकी की सूनी कलाइयों में पीतल की दो चूड़ियों के अलावा अब कुछ भी शेष न था। मैके से भाई आया था—बुलाने के लिए—जाड़ो के कुछ दिन वहीं कट जाएंगे, पर उसने मना कर दिया था।

आसपास के अधिकांश लोग तराई की तरफ कब से निकल चुके थे—कुछ महीने के लिए मेहनत-मजूरी की तलाश में।

सारी बस्ती उजाड़-उजाड़-सी लगती—इक्के-दुक्के लोग ही कहीं-कहीं दिखलाई देते थे···।

एक दिन शाम को वह अंगेठी में आग सुलगा रहा था। आग में जगल से बटोरी चीड की बकरियां भरक रही थी। तभी उसने मुडकर देखा—कोई पीछे खड़ा है। लम्बा-चौड़ा। पलटनियां-जैसा। तीखी, तिरछी लम्बी मूंछें—भेड़िया-जैसा!

काछा को झटका-सा लगा।

काकी ने संकोच से पिछौड़ी का चाल लम्बा खींचते हुए, उसके बैठने के लिए दरी बिछा दी थी।

"यह कौन है काकी ?" उसने चुपके-से पूछा तो पहले काकी चुप रही, फिर कुछ सोचती हुई बोली, "पाहुना है—दूर का रिश्तेदार। तेरे काका का भाई···!"

उस रात वह वहीं रुका था।

कुछ सप्ताह बाद वह फिर आया था। दो दिन तक रुका रहा था···। रात के अंधियारे में, सबके सो जाने के बाद, भीतर वाले कमरे से काकी के रोने और उसके मनाने का स्वर देर तक गूंजता रहा था···

महीना भी अभी बीता नहीं था कि वह घर के आंगन में फिर खड़ा दिखलाई दिया था। उसके साथ सामान की एक बड़ी पोटली भी थी इस बार।

उसकी मिची-मिची कांइयां आंखें, भौं पर ढेर सारे बाल, छोटे-छोटे कान! कांछा को यह व्यक्ति कतई भी अच्छा नहीं लगा था। न इसका आना ही। जब भी वह इसे देखता, एक तरह की दहशत-सी होती मन में।

काकी इस बार इतनी उदास नहीं लग रही थी।

एक दिन कांछा बाहर से लौटा था। उसने देखा था—दोनों आग के पास बैठे बतिया रहे हैं। काकी को वह अपने साथ, अपने गांव ले चलने के लिए मना रहा है। सामने पोटली खुली है। काकी के लिए वह नये कपड़े लाया है। चूड़ियां लाया है। फुन्दे-झुमके लाया है···

पर काकी चुप है। असमंजस में डूबी आसमान की ओर देखती हुई···

शाम को, आंगन में बैठा कांछा अपनी बकरी को घास खिला रहा था तो उसने कहते सुना, "क्यों रे कांछा, तेरी बकरी तो अब खाने लायक हो गई है···क्यों?" व्यंग्य से देखता हुआ वह 'हो-हो' हंस पड़ा था।

यह हंसी कितनी कष्टकर और भयावह लगी थी उसे! सहसा मन में नया सन्देह भी उपजा था—कहीं वह पहले की तरह पानी लाने नौला गया तो, पहले की ही तरह लौटने पर आंगन में जलती आग न दीखे! उसकी नन्ही-सी बकरी की गरदन एक ओर कटी और यह भेड़िया —से आग में भूनता हुआ···

उसका गला सूख गया था।

बकरी से वह क्षणभर के लिए भी अलग न हो पाया था। काकी ने एक-दो बार किसी ज़रूरी काम मे बाहर जाने के लिए कहा, पर वह जान-बूझकर टाल गया था।

उसके सीने मे रह-रह के भूचाल धरक रहा था। रात उससे खाना भी निगला न गया था। वैसा ही उसने परे रख दिया था। इतनी सर्दी के बावजूद उसे ढग से कपड़े लपेटने का होश न था। उसके मन में बार-बार एक ही शका उठती रही—कहीं फिर सब वैसा ही, वैसा ही, वैसा ही तो नही हो रहा···!

उसकी पुतलियां खुली की खुली थी। सारा शरीर ठण्डे पसीने से नहा आया था।

यह छोटी आंखोवाला खूंखार भेड़िया कल नही तो परसो, परसो नही तो निरसों फिर बकरी को मारकर खा जाएगा···फिर एक दिन, पहले की तरह काकी के साथ-साथ उसे भी हाककर अपने घर ले जाएगा··· वहां इसकी चिड़चिड़ी, बुढिया-सी पत्नी होगी। ढेर सारे बच्चे। वे बच्चे उसके साथ वैसा ही दुर्व्यवहार करेंगे। यह आदमी नही, नही-नही, भेड़िया उसे उसी तरह पीटेगा—बिना बात। काकी गूगे पशु की तरह सब सहती-देखती रहेगी···और फिर एक दिन वह ढोर-डंगरों के लिए घास लाने जंगल जाएगी···और वहीं किसी छिछली चट्टान से···मां का रक्त मे सना क्षत-विक्षत शरीर···धू-धू कर आग की लपटों मे जलता शव···उसे कही साफ दिखलाई दे रहा था।

सहसा वह ज़ोर से चीख पडा !

"नही···नही···" कम्बल परे पटककर, बदहवास-सा वह उठ बैठा, "नही, ऐसा नही होगा···नही, नही···!" मुट्ठी भीचकर, दांत पीसकर अंधियारे में छटपटाने-सा लगा।

बाहर हल्की-सी आहट हुई।

उसने देखा—

सुबह होने को है। बाहर सारी धरती बर्फ मे ढकी है। जहां तक दृष्टि जाती है—सफेदी-ही-सफेदी। सांकल खोलकर काकी शायद पानी के

पास गई है। ताजी बर्फ पर पावों के धसने के गहरे निशान है…

दबे पांव वह भीतर की ओर मुड़ा—किवाड़ धीरे-से उढकाकर। तेज हवा बह रही थी।

भीतर का दरवाजा यों ही बन्द था।

थोड़ा-सा खोलकर दरार से उसने झाका—

भेड़िया मुर्दे की तरह लम्बा लेटा खर्राटे भर रहा है…

उसकी टटोलती निगाहें इधर-उधर मुड़ी। दाईं ओर दीवार के सहारे मोटे पत्थर की भारी, चपटी शिल खड़ी करके रखी थी…।

काछा को न जाने क्या सूझा !

कहां उसमें इतनी शक्ति आई !

उसने अपने दोनों हाथों से भारी-भरकम शिल ऊपर तक उठाई और सोए हुए भेड़िए के सिर पर धम्म् से दे मारी…

जल्दी से, हांफता हुआ फिर वह बाहर की ओर दौड़ा। अपनी बकरी की रस्सी खोली और उसे गोदी में उठाए, रास्ते मे बिछी बर्फ को रौंदता हुआ, पहाड़ी के दूसरे ढलान की ओर निकल भागा—जहा लम्बी-चौड़ी सड़क थी, और भी कई रास्ते, जो उसे कही भी ले जा सकते थे।

●●●